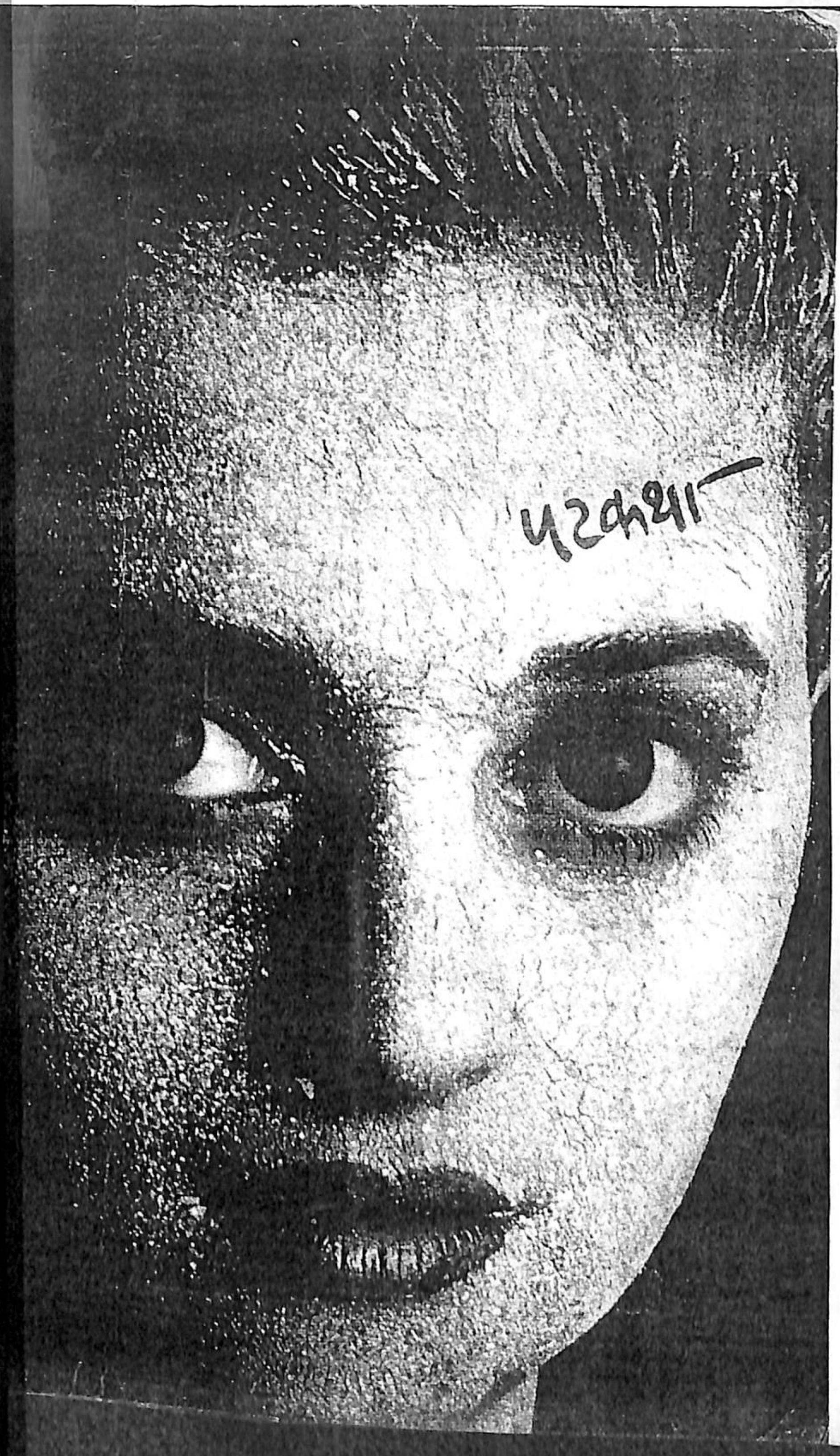

परकथा

पटकथा

शास्त्रीय सिनेमा पर एकाग्र सीरिज़

सम्पादक
श्रीराम तिवारी

मध्यप्रदेश
फिल्म
विकास
निगम
का प्रकाशन

पटकथा

शास्त्रीय सिनेमा पर एकाग्र [illegible]

वर्ष दो ● अंक 8 ● 1990

प्रकाशक

ललित कुमार जोशी

सम्पादक

श्रीराम तिवारी

अभिकल्प

विवेक

आभार

आशीष नंदी

अनुवाद

सुशील त्रिवेदी, इंदुप्रकाश कानूनगो, सुधीर दीक्षित, संगीता स्वप्निल, अमिताभ

एक अंक 20 रुपये, वर्ष के 6 अंक 120 रुपये, वार्षिक ग्राहकों के लिए साधारण डाक से शुल्क 100 रुपये, रजिस्टर्ड डाक से मँगाने पर रजिस्ट्री शुल्क अतिरिक्त.

सम्पर्क

मध्यप्रदेश फ़िल्म विकास निगम मर्या.

ई 1/90 अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462 016

फ़ोन ● 67908 / 63491 तार ● फ़िल्मडेव

इस अंक में

प्रस्तावना

अभी भी हमारे यहाँ सिनेमा को प्रायः एक कला-रूप बतौर मान्य नहीं किया जाता है; वह अक्सर *मीडिया-प्रविधि* का विस्तार है। चूँकि, या तो वह *प्राविधिक* है या फिर *मनोरंजन का कारख़ाना* अतः दोनों ही स्तरों पर विचार करना आलोचकों ने प्रायः ग़ैर-ज़रूरी मान लिया जाता रहा है। संभवतः यही मुख्य-कारण है कि हमारे यहाँ सिनेमा-आलोचना विकसित नहीं हुई और उसे *प्रचार-अधिकारियों* के भरोसे छोड़ दिया गया, जिन्होंने सिनेमा को बेचने के लिए अधोपतन, भद्दियापन [illegible] को प्रोत्साहित करना उचित समझा। दुर्भाग्य यह भी है कि [illegible] सिनेमा तथा सिनेमा-चित्रकारिता [illegible] आज जो सिनेमा दृश्य है उसे बड़े स्तर पर महत्व और [illegible] मिलने के बाद भी विश्लेषण-विचार के लिए कम ही उपयोगी माना जा रहा है। साहित्य और अन्य कलानुशासनों पर पहली प्राथमिकता के बाद यदि सिनेमा बाबत आलोचकों ने अपनी दिलचस्पी दिखायी भी है तो वह अभिजात सिनेमा की ओर, जो कि हमारे यहाँ कला, समांतर और नया सिनेमा की पदावलियों में भी परिचित है, या फिर उन्हें अधिक विचारोत्तेजना होती है विश्व-सिनेमाकृतियों से प्रतिकृत होना [illegible] अभिजात या विश्व-सिनेमा-कृतियों पर केन्द्रित आलोचना-प्रयत्न हमारे यहाँ कम ही हैं, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, यदि वे हैं तो उसका बहुलांश समीक्षा और टिप्पणी तक ही सीमित है, जो किसी तरह की समझ नहीं बढ़ाता।

लेकिन सिनेमा में लोकप्रियता और लाभ-लूट के तत्वों के साथ ही अब चेतना पर शासन करने तथा राजनीतिक लाभ उठाने का तत्व भी बड़े पैमाने पर शामिल हो रहा है। इसके साथ ही बहुलोकप्रिय सिनेमा आधुनिक समय की हिंसा और सेक्स का [illegible] वृहत् तथा आदर्श संचार-क्षेत्र बन रहा है, जो कि उसका स्वभावजन्य विकास भी है। इसलिए समाजशास्त्रियों की दिलचस्पी बहुलोकप्रिय सिनेमा की ओर भी इधर बढ़ी है क्योंकि आधुनिक जीवन का, उसे प्रभावित करने वाली हिंसा और सेक्स का कोई भी अध्ययन बहुलोकप्रिय सिनेमा के सामाजिक और सांस्कृतिक विश्लेषण के बग़ैर पूरा नहीं हो सकता। इसके अलावा समाजशास्त्रियों की दिलचस्पी इसलिए भी बढ़ी है कि अभिजात सिनेमा को समझने के लिए बहुलोकप्रिय सिनेमा को [illegible] जरूरी है। यह मान्य निष्कर्ष है कि उच्चभ्रू सिनेमा, निम्न-भ्रू [illegible] समाज में अवस्थित है। पहले वाला, दूसरे के बिना कल्पित नहीं किया जा सकता।

पटकथा के इस अंक में हमने बहुलोकप्रिय सिनेमा पर विचार करने [illegible] है कि आखिर लोकप्रियता क्या है? इसका समाज और [illegible] की सम्बद्धता है? क्या यथार्थ के साथ एक [illegible] बनाकर ही लोकप्रिय हुआ जा सकता है? [illegible] दूसरा रूप भी है? क्या लोकप्रियता का कोई [illegible] सिनेमा समाज को किस तरह से प्रभावित करता है? [illegible] लोकप्रिय सिनेमा पहले से ज़्यादा सतर्क तथा [illegible] देखा जायेगा?

वास्तव में यह विषय इतना व्यापक है कि एक-दो अंकों की परिसीमा में [illegible] सोच-विचार नहीं हो सकता। अतः हमारी योजना है कि सामग्री को अनेक [illegible] में विस्तारित किया जाये। प्रस्तुत अंक में हमने बहुलोकप्रिय सिनेमा में प्रेम [illegible] कल्पना की हत्या, पारम्परिक फ़िल्मों में विद्रोह, भव्य सम्मोहन, खल और [illegible] तत्वों के एकीकरण, स्त्री-पुरुष के रुढ़ि-आबद्ध संबंधों, लिंग और शक्ति के समीकरण, राजनीतिक छवि पर फ़िल्मी छवि के आरोपण आदि पर विचार करना चाहा है। **सुधीर कक्कड़** ने अपने निबंध **अँधेरे में प्रेमी** के बहाने सिनेमा के उन बिन्दुओं [illegible] का स्पर्श करना चाहा है जो अपने उथलेपन, भावुकता, स्थूलचेष्टाओं और [illegible] वर्णनात्मकता के कारण प्रेम और कल्पना जैसे पवित्र तत्वों की हत्या और दर्शक की समझ को अधिक भ्रामक व भ्रष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। **चिदानंददास गुप्त** के निबंध **गोपी, पत्नी और तवायफ़** में हिन्दी सिनेमा के संदर्भ में पुरुष और स्त्री के रूढ़ संबंधों की चर्चा है। उन्होंने अपने विश्लेषण में उसे हिन्दी प्रदेश के दकियानूस और पोंगापंथी मिजाज़ के साथ जोड़कर— देखना चाहा है। यह बात विचार योग्य है कि महाबिकाऊ होने में अपनी सार्थकता खोजने-वाला सिनेमा किसी क्षेत्र और भाषा विशेष का ठहराया जा सकता है? क्योंकि बहुलोकप्रिय सिनेमा के बारे में यह तथ्य है कि यह पहचान करना संभव नहीं है कि ये फ़िल्में किस देश और भाषा में घटित हो रही हैं? उनकी जातीय स्मृति और उनकी परंपराएँ क्या हैं? हिन्दी फ़िल्मों के इस तथ्य को भी क़तई अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए कि उसका सारा काम (फ़िल्म कल्पित करने से लेकर रूपायित करने तक और तो और संवाद लेखन भी सिर्फ़ उनका हिन्दी तर्जुमा भर किया जाता है) अंगरेज़ी में ही होता है। इस तरह

का अधोगामी सिनेमा हिन्दी, बंगला, मलयाली या मराठी किसी भी भाषा का हो सकता है। निश्चित रूप से चिदानंददास गुप्त के निबंध पर बहस की पूरी गुंजाइश है। **फ़रीद काज़मी** ने अपने अध्ययन **नाराज़ युवा, कितना नाराज़** है की हिन्दी की पारंपरिक फ़िल्मों में विद्रोह पर एकाग्र किया है। और इस पर भी

कि यह प्रवृत्ति आम लोगों के दृष्टिकोण को क्या देती है और उसे किस सीमा तक परिवर्तित करती है? **रत्नाकर त्रिपाठी** का लेख **हिन्दी सिनेमा के भव्य सम्मोहन** की बनावट की पड़ताल करने का प्रयत्न है। वे मानते हैं कि सिनेमाई सम्मोहन का शिकार दयनीय-आम-आदमी वस्तुतः नायक का ही एक अंश है, जो सिनेमाघर के तीन घंटे के अँधेरे-बंद अनुभव से उल्लसित और मुखर होता है। **श्याम बेनेगल** ने अपने निबंध **सिनेमा, टेलीविज़न और भारत** में सिनेमा के विकास और विचलनों को मापना चाहा है। ईमोसिंह ने खल और नायक तत्वों के एकीकरण पर टिप्पणी की है। **एम.एस.एस. पांडियन** का लेख **संस्कृति और अधीनस्थ चेतना** एम.जी.आर. फेनोमिना के अध्ययन के बहाने, राजनीतिक छवि पर सिनेमाई छवि के आरोपण तथा अधीनस्थ वर्गों में प्रभावकारी विचारधारा व संघर्ष के विचलन को जाँचते हैं। **अंजली मोंटेरियो** ने **उड़ती हुई पतँगें** में दो टी.वी. सीरियलों **उड़ान** तथा **आव्हान** का विश्लेषण किया है और साथ ही दूरदृश्य प्रबंध में लिंग और शक्ति के सम्बन्धों को भी परीक्षित किया है। **संदीप श्रोत्रिय** ने एक दूसरे नज़रिये से सिनेमा के संकट को पहचानने की कोशिश की है।

हम इस अंक में विन्यस्त सामग्री के बहुतांश के लिए **सेंटर फ़ार दि स्टडी आव डेवलपिंग सोसायटीज़** तथा **प्रो. आशीष नंदी** के आभारी हैं, जिनके संयोजन में पिछले दिनों मैसूर में बहुलोकप्रिय सिनेमा पर मैसूर में चर्चा आयोजित हुई थी। यह सामग्री इसी चर्चा के लिए तैयार की गयी थी। हमें भरोसा है कि हमारे सुविज्ञ पाठक इस अंक की सामग्री को विचारोत्तेजक पायेंगे।

— श्रीराम तिवारी

अँधेरे में प्रेमी

सुधीर कक्कड़

1940 के दशक में जब मैं बड़ा हो रहा था सिनेमा देखने जाना, ख़ासकर पंजाब में, एक व्यसन समझा जाता था हालाँकि इसे पूरी तरह अनैतिक नहीं समझा जाता था। सिनेमा देखने की आदत किशोरों की संवेदनाओं के लिए ख़ासकर ख़तरनाक मानी जाती थी। तो भी सारी फ़िल्में इतनी निम्न कोटि की नहीं समझी जाती थीं। भारत में सभी चीज़ों— पौधों से मनुष्यों तक— की तरह फ़िल्मों में भी एक कठोर श्रेणीबद्ध वर्गीकरण हुआ करता था, जो अब भी विद्यमान है। फ़िल्मों की जाति पक्ष के अनुसार, स्टंट फ़िल्में, जो कुंग-फू फ़िल्मों का भारतीय रूपांतरण कही जा सकती हैं, सीढ़ी पर सबसे नीचे मानी जाती थीं और जो अछूत और शूद्र की होती थीं जबकि ब्राह्मण **पौराणिक कथाएँ** और क्षत्रियों की **ऐतिहासिक कथाएँ** सबसे ऊपर की सीढ़ी के लिए स्पर्धा करती थी। मुझे सिर्फ़ एक बार प्रभात टॉकीज़ के मालिक के बॉक्स में बैठने का मौक़ा मिला- सिनेमा लाहौर वाले एक रिश्तेदार का था--- और तब मैंने एक पौराणिक फ़िल्म **कादम्बरी** देखी जो कोई यादगार नहीं थी। बचपन में स्टंट फ़िल्में मुझे खूब पसंद थीं, हालाँकि मेरी अभिरुचि उदार थी, जिसमें अविवेकी श्रद्धा भी समाहित थी। मैं जब भी लाहौर जाता था, एक मित्रवत गेटकीपर की मदद से फ़िल्मों के प्रति अपने अनुराग को पूरा कर लिया करता था। मैं **अनुराग** शब्द का प्रयोग शब्दशः कर रहा हूँ रूपक की तरह नहीं, क्योंकि फ़िल्मों के प्रति मेरा रुझान अतोषणीय था और मैं फ़िल्में खूब देखता था। मैंने रतन सोलह बार देखी, **शिकारी** चौदह बार और यहाँ तक कि मैंने **कादम्बरी** को भी तीन बार और देखा था।

मैं अपने सिनेमा-भ्रमण को शिद्दत के साथ याद करता हूँ जिसमें बचपन की घटनाएँ हैं जो एक स्थायित्व और क्षणिकता की अद्वितीय दीप्ति में चमकती है। अँधेरे की गुमनामी एक चमकते प्रकाश मे चौंधियाने लगी जिसने स्क्रीन पर एक जादुई पर परिचित संसार को जन्म दिया। मैं छोटा बच्चा नहीं रह गया था बल्कि वयस्कता से ईर्ष्यालु संसार को जन्म दिया। हालाँकि मुझे इसके अनुष्ठान और रहस्य का भान तो था, पर हल्का-हल्का ही। मैं हमेशा ओरों के साथ हँसता था जो हँसी द्विअर्थी संवादों के बाद गूँजती थी, इस बात के बावजूद कि उसका सुनिश्चित अर्थ मैं नहीं समझ पाता था। मैं निस्तब्ध शांति में अपनी साँस रोक लेता था जो एक अच्छी तरह अभिनीत प्रेम-दृश्य के बाद आती है और जब भी नायिका का चेहरा

पानी में गिरकर या किसी और प्रकार भींग जाता था मैं गुपचुप सीटियाँ बजाने का प्रयास करता था। जब **सत्यम् शिवम् सुन्दरम्** में जीनत अमान की माँसल देह उसकी गीली और चिपकी साड़ी से झरने में नहाते हुए झलकी पड़ रही थी, तब मैं हिन्दी फ़िल्मों के संसार के प्रति कृतज्ञ था कि उसने इस अस्थिर और परिवर्तनशील संसार में भी निरंतरता बनाये रखी थी। जब मैं बच्चा था फ़िल्मों ने मुझे एक वाँछित वयस्कता का ललचाने वाला परिदृश्य उपलब्ध कराया। एक वयस्क की तरह फ़िल्में मेरे बचपन की राह की तरफ ले जाती थीं।



हिन्दी फ़िल्मों के संसार से मेरे सम्बन्ध को मैंने ज़रा विस्तार से व्यक्त किया है तो इसलिए नहीं कि मेरे पास कोई विस्तृत व्यक्तिगत अनुभव या विशेष ज्ञान हो बल्कि भारतीय लोकप्रिय सिनेमा के संसार से साथ एक सतत् सुनिश्चित सम्बन्ध के तथ्य पर ज़ोर देने के लिए। आज, यह सिनेमा, जो बिम्बों और प्रतीकों को पारंपरिक क्षेत्रीय संस्कृतियों से लेता है और अधिक आधुनिक पश्चिमी कथानक के साथ मिश्रित करता है, एक उभरती सर्व-भारतीय लोकप्रिय संस्कृति का बहुत बड़ा निर्धारक है, यद्यपि इसके कथानकों के सीमित रंगपटल को, जिसके साथ दर्शक पहले से परिचित होते हैं, पारंपरिक लोक रंगमंच के साथ काफी समानताएँ हैं। सिनेमा द्वारा दर्शित लोकप्रिय संस्कृति शास्त्रीय और लोक दोनों के तत्वों के आगे जाती है और उनको समाहित भी करती है।

फ़िल्म एक ऐसे दर्शक-वर्ग के लिए बनी है जो काफ़ी हद तक असदृश्य होता है और जो सामाजिक और स्थानीय श्रेणियों से बढ़कर है। हर रोज़ लगभग डेढ़ करोड़ लोगों द्वारा देखे जाने वाले लोकप्रिय सिनेमा के मूल्यों और भाषा ने बहुत पहले से ही शहरी सीमाएँ पार कर ली हैं ताकि वह ग्रामीण जनसंख्या की लोक संस्कृति में प्रवेश कर सके, जहाँ वे श्रेष्ठ जीवन के भारतीय विचारों तथा समाज, परिवार व प्रेम सम्बन्धों की विचारधारा को प्रभावित करने लगती हैं। किसी क्षेत्र का लोक नृत्य या एक विशिष्ट संगीत का टुकड़ा जैसे भक्तिपूर्ण भजन, जब बम्बई या मद्रास स्टूडियो के द्वारा पार कर लेता है तो यह एक ऐसे फ़िल्मी नृत्य या फ़िल्मी भजन में तब्दील हो जाता है जिसमें दूसरे क्षेत्रों के और शायद पश्चिम के भी नृत्य व संगीत के मूलतत्व जोड़ दिये जाते हैं और जो इसके बाद पूरे टेक्नीकलर और स्टीरियोफोनिक साउंड में सामने आता है जो निश्चित रूप से मौलिक से काफ़ी अलग होता है। इसी तरह फ़िल्मी स्थितियों, संवाद और साज-सज्जा ने लोक रंगमंच का शोषण करना शुरू कर दिया है। धार्मिक पूजा, यहाँ तक कि आराधना के लिए निर्मित पारंपरिक मूर्तियाँ और चित्र भी फ़िल्म के देवी-देवताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

लोकप्रिय सिनेमा के बारे में सोचते हुए मैं फ़िल्मों को एक सामूहिक फंतासी, एक सामुदायिक दिवास्वप्न मानता हूँ। **सामूहिक** और **सामुदायिक** से मेरा मतलब यह नहीं है कि हिन्दी फ़िल्में किसी मिथकीय सामूहिक अवचेतन या किसी सामूहिक मस्तिष्क की अभिव्यक्ति हैं। इसके बजाय मैं सिनेमा को वह मूल माध्यम मानता हूँ जिसके ज़रिये भारतीय उपमहाद्वीप में रह रहा विशाल जनसमुदाय, जो संस्कृति और मनोवैज्ञानिक स्तर पर गुँथा हुआ है, फंतासियों में साझेदारी करता है। मैं **फंतासी** शब्द का इस्तेमाल इसके प्रचलित अर्थ में नहीं कर रहा हूँ जिसके मायने होते हैं, सनक, सनक या हल्कापन। मेरी नज़र में फंतासी उस कल्पनालोक का दूसरा नाम है जिसे आकांक्षा से बल मिलता है और हमें एक वैकल्पिक संसार उपलब्ध कराता है जहाँ हम यथार्थ के साथ अपनी पुरानी जंग ज़ारी रख सकते हैं। आकांक्षा और फंतासी आपस में गुँथे हुए हैं। अरस्तू का यह कथन कि फंतासी के बिना कोई आकांक्षा नहीं हो सकती, प्रतिलोम में अधिक सही है। फंतासी आकांक्षा का "*मिज़ा-एन-सीन*" है, एक चाक्षुष रूपाकार में इसका रूपांतरण।

फंतासी का मूल हमारी बहुतेरी आकांक्षाओं के बीच अपरिहार्य टकराव में है जो *वातावरण* (ख़ासकर लोगों पर) पर माँग के रूप में और हमारी इच्छापूर्ति के प्रति उस वातावरण की असमर्थता या अनिच्छा प्रतिपादित की जाती है, जहाँ यह उन्हें पूर्णतः निषिद्ध नहीं करता। इस तरह फंतासी की शक्ति इच्छाओं को संभव या तार्किक से परे ले जाकर हमारे बचाव के लिए आती है, वह बीते दिनों को पुनर्निर्मित तो करती ही है, भविष्य को गढ़ती भी है। फंतासी "वह सामग्री है जिससे सपने बुने जाते हैं" यह आकांक्षा और यथार्थ के बीच बना पुल है जो माँग और पूर्ति की खाई को पाटता है। मनोविश्लेषक राबर्ट स्टोलर के *अनुसार फंतासी* "आशा का वाहक, मानसिक *आघातों का रोगहर* , *यथार्थ* से रक्षक, सत्य का संगोपक, व्यक्तित्व का निर्धारक, शांति को पुनर्प्रतिष्ठित करने वाला, भय व दुख का शत्रु और आत्मा का परिमार्जक है।" [2] अन्य देशों के सिनेमा के मुक़ाबले हमारी हिन्दी फ़िल्में इस विशेष अर्थ में फंतासी हैं।

एक फ़िल्म से दूसरी फ़िल्म तक विशुद्ध फंतासी की निरा परिमाण वस्तुतः दुर्दमनीय है और यह सोचना बड़ा अशांत करने वाला है कि जीवन की समस्याओं के लिए जादुई स्पष्टीकरणों या परिकथाओं के समाधानों के प्रति अनन्य तन्मयता भारतीय समाज के बड़े समुदाय में अभिव्यक्ति की एक गहरी आवश्यकता की अभिव्यक्ति हो सकती है। कई लोग भारतीय सिनेमा में बाह्य यथार्थ के इस तरह पूर्णतः नकारे जाने को विकृति का एक चिन्ह भी समझ सकते हैं, ख़ासकर जब यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि फ़िल्मों में फंतासी उन लोगों की पलायन की आवश्यकता पूरी करती है जो ग़रीबी की रेखा के नीचे रह रहे हैं। पहली बात तो यह कि ग़रीब लोग भारतीय फ़िल्मों के सबसे अधिक दर्शक नहीं होते। दूसरी बात यह कि किसी भी दूसरे देश में हमें ऐसा सिनेमा नहीं मिलता जिसे, आर्थिक वंचन और राजनीतिक अनिश्चितता के सबसे ख़राब दौर में भी इस तरह की एकरूप फंतासी दी हो। न तो ज़र्मन सिनेमा ने बीस के दशक के आर्थिक संकट के दौरान, न ही जापान के सिनेमा ने दूसरे विश्व युद्ध की विभीषका के पश्चात् फंतासी को एक दुर्दमनीय सिद्धांत के दर्ज़े तक उठाया। और अगर यह ध्यान में रखा जाये कि इटली में नवयथार्थवाद तब तक फला-फूला था जब इटली विश्वयुद्ध में विजय के बाद आर्थिक दुरावस्था में था। तब तो यह मानना ही होगी कि केवल आर्थिक परिस्थितियाँ भारतीय फ़िल्मों के फंतासी जगत् को स्पष्ट नहीं कर सकती।

मुझे लगता है हिन्दी सिनेमा में फंतासी की सर्वव्याप्ति होने के कारण सांस्कृतिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में होना चाहिए बजाय सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के क्षेत्र में होने के। दूसरी संस्कृतियों की तरह हमारे यहाँ भी फ़िल्मों के व्यसनी हैं। यह वे अभागे लोग हैं जो बचपन में ही यथार्थ को एक वयस्क नज़रिये से देखने के लिए अभिशप्त थे। जिन्हें बचपन के जादुई संस्कार से असमय ही वंचित कर दिया गया था और अब उस शून्य को भरने के लिए उन्हें वे फ़िल्म संसार की फंतासी की ज़रूरत है। इस समूह को छोड़ दिया जाये तो कोई भी सामान्य बुद्धि वाला भारतीय यह विश्वास नहीं करेगा कि हिन्दी फ़िल्में संसार के यथार्थ को चित्रित करती हैं,

यद्यपि मैं यहाँ यह भी कहना चाहूँगा कि अविश्वास को स्थगित करने की हमारी इच्छा अन्य संस्कृतियों की इच्छा से अपेक्षाकृत अधिक है। ऐसा इस कारण नहीं है कि भारतीयों की मानसिकता फंतासी से आक्रांत है। प्राप्त विचार और विश्वास को अवलोकन मानना, विश्वास के पुष्टिकरण की तलाश करना बजाय ज्ञान की खोज करने के यथातथ्य और परिणामिक ढंग से सोचने के बजाय निबन्ध सहचारी तरीके से सोचना भारतीय, अमरीकी, चीनी, जापानी या ज़र्मन नहीं है बल्कि अधिकांश मनुष्यों के लिए सही है। तो भी मेरी यह परिकल्पना है कि तुलनात्मक रूप से *देखे जाने पर भारत में बच्चे का जादुई संसार वयस्क चेतन से अधिक दूर नहीं* होता जैसा कि बाक़ी संस्कृतियों में होता है। संस्कृति के विशिष्ट प्रतिबल और बच्चे के पाले जाने की संगत प्रथाओं के कारण भारतीय अहम् इतना लचीला होता है कि वह बिना भय महसूस किये अस्थायी रूप से बचपन तक पीछे हट जाये।[3] हिन्दी फ़िल्में हमारे बहुसंख्यक वर्ग के लिए पश्चगामी आश्रय उपलब्ध कराती हैं।

जैसा मैंने ऊपर संकेत कियाँ है, यदि, मैं भारतीय सिनेमा के दर्शक-वर्ग को न सिर्फ़ एक पाठक बल्कि हिन्दी फ़िल्मों की पटकथा का वास्तविक लेखक मानता हूँ तब इन प्रत्यक्ष रचनाकारों की क्या भूमिका है--- जैसे निर्माता, निर्देशक, पटकथा लेखक, संगीत निर्देशक इत्यादि। मेरे विचार में उनके कार्य विशुद्ध सहायक हैं और उस प्रकाशक की तरह हैं जो कई पांडुलिपियों में से एक निश्चित पांडुलिपि को चुनता, संपादित और प्रकाशित करता है। बॉक्स ऑफ़िस पर सफल होने की ख़ातिर फ़िल्म-निर्माण उस दिवास्वप्न का चयन और विकास करते हैं जो विशिष्ट नहीं हैं उन्हें दर्शक वर्ग की उस दिलचस्पी और चिंताओं के प्रति अपील करना चाहिए जो सम्मिलित की जाती हैं। अगर वे सम्मिलित नहीं की जातीं तो फ़िल्म की अपील अत्यंत सीमित होगी। अश्लील साहित्य की ही तरह हमारे फ़िल्म निर्माता भी एक ऐसी कृति रचना चाहते हैं जो वशीभूत करने और उत्तेजित करने में पर्याप्त अनूठी हो और लोगों को लुभाने के लिए पर्याप्त साधारण भी हो। इतना ही नहीं, हर साल बनने वाली लगभग 700 फ़िल्मों से 10-15 फ़िल्में ऐसी होती हैं जिन्हें काफ़ी सराहा जाता है। हिट फ़िल्म की तलाश में हमारे फ़िल्म निर्माता इन दिवास्वप्नों को बार-बार, चंद परिवर्तनों के साथ पेश करते हैं। उनका लक्ष्य होता है इन्हें अधिकाधिक पोषक विकल्प के रूप में विकसित करने का जो यथार्थ का स्थान ले सके! फंतासी के सामान्य शीर्षक के अंदर जो काफ़ी विस्तृत होता है। स्वप्नों में सर्वाधिक आद्य कल्पनाओं से लेकर रोज़मर्रा के जीवन में यथार्थ की बुद्धिसंगत भ्रांत की व्याख्या तक हिन्दी फ़िल्म शायद दिवास्वप्न के सबसे क़रीब होती है। यथार्थ में; इन फ़िल्मों का चाक्षुष परिदृश्य एक सशक्त दिवास्वप्न का गुण लिये होता है क्योंकि यह पूर्णतः यथार्थ के बाहर स्थित नहीं होता बल्कि इससे स्पष्टतः जुड़ा होता है। जैसा अर्जुन अप्पादुरई और केरोल ब्रेकेनरिज ने इंगित किया था, हालाँकि लोकप्रिय फ़िल्म को परिश्दृश्य में ऐसे स्थान, सामाजिक प्रकार, स्थान-विज्ञानी रूपक और परिस्थितियाँ होती हैं जो दैनंदिन के अनुभवों की याद दिलाती हैं। पर इन तत्वों को परिवर्तित या क्रमान्तरित कर दिया जाता है जिससे एक सूक्ष्म रूप से काल्पनिक वातावरण

रचा जा सके। यहाँ तक कि फ़िल्मों की भाषा भी बोलचाल की भाषा से मिलती-जुलती होती है।[4] जैसे "इंडिग्लिश" (भारतीय शैली में बोली जाने वाली अंग्रेज़ी) में बार-बार सुना जाने वाला वाला यह संवाद "डोन्ट मारो फ़िल्मी डॉयलोग्स, यार" (फ़िल्मी लहज़े में संवाद मत बोलो, दोस्त) अधिकांशतः किसी ऐसे व्यक्ति को सम्बोधित होता है जो मित्रता, प्रेम या शत्रुता में आडम्बरपूर्ण भावुकता को अधिव्यक्त करता है। भारतीय सिनेमा में पात्रों के बीच संवादों का यह एक प्रातिनिधिक उदाहरण है।

वयस्क दिवास्वप्न की ही तरह हिन्दी फ़िल्में भी फंतासी के प्रमुख तत्वों को उभारती हैं— इच्छापूर्ति, प्रतिद्वंद्वियों को नीचा दिखाना और शत्रुओं का विनाश। फ़िल्मी कथावस्तु के घिसे-घिसाये फ़ार्मूले उस संदेश को बार-बार दोहराते हैं जो, उदाहरण के लिए, परिकथाओं को बच्चों के लिए संतुष्टि दायक बनाता है— और वह संदेश है— जीवन की मुश्किलों के ख़िलाफ़ संघर्ष अपरिहार्य है। पर अगर कोई जीवन में आने वाली विपदाओं का साहस के साथ डटकर मुक़ाबला करे तो वह अंततः विजयी होता है।[5] फ़िल्मों और परिकथाओं दोनों के अंत में सामान्यतः माता-पिता प्रसन्न और गर्वित होते हैं। राजकुमार को राजकुमारी मिल जाती है और खलनायक या तो आत्मग्लानि और पश्चाताप की अग्नि में झुलसते हैं या फिर उनकी टूटी-फूटी काया ज़मीन पर पड़ी रहती है। फ़िल्म में बुराई परिकथाओं के मार्ग पर चलती है। अल्पावधि के लिए वह भले ही विजयी दिखायी दे और नायक के वैध अधिकारों का हनन करने में क़ामयाब हो जाये पर इसकी असफलता और पराजय अवश्यंभावी है। उस बच्चे की तरह जो बुराई के प्रति बुरी तरह आकर्षित और उसके वशीभूत हैं क्योंकि, उसे हमेशा अच्छा बच्चा बने रहने के लिए मज़बूर किया गया है, हिन्दी सिनेमा में बुराई ऐन्द्रिक सुख की असावधान खोज के आकर्षण के बग़ैर नहीं होती। सामान्यतया यह कभी न सुधरने वाला खलनायक होता है जो मदिरापान का सुख या (इच्छुक या अनिच्छुक) कामुक और आकर्षक महिलाओं की सोहबत का सुख होता है।

हिन्दी फ़िल्मों और परिकथाओं में एक और समानता यह है कि दोनों में परिस्थितियों का सरलीकरण और ब्यौरे का विलोपन होता है जब तक कि ब्यौरा अनिवार्य न हो जाये। फ़िल्म के अनूठे पात्र हमेशा प्रातिनिधिक होते हैं, और वास्तविक लोगों के जीवन की जटिलता उनके जीवन में नहीं होती। नायक और खलनायक नायिका और उसकी सबसे अच्छी सहेली, स्नेही पिता और दुष्ट सौतेली माँ कभी उभयभावी नहीं होते जैसे हम सभी अपने जीवन में होते हैं, पर उपन्यासों के बिल्कुल विपरित, फ़िल्म से चरित्र-चित्रण का उद्देश्य मनुष्य के जीवन को आक्रांत करने वाली वैयक्तिक जटिलताओं के बारे में हमारी समझ का विकास नहीं होता, न ही मानव मात्र के वर्तमान के बारे में चिंतन में मदद करना होता है। उनका इरादा होता है हमारे भीतर छिपे बच्चे के प्रति अपील करना, तत्क्षण सहानुभूति या विद्वेष जागृत करना और इस तरह से तादात्म्य को प्रोत्साहित करना, जो हमारी फंतासियों का अधिक प्रखरता से रस लेने में मदद करते हैं।

जबकि सिद्धांतवादी बुद्धिवादी हिन्दी फ़िल्मों को अवास्तविक करार देते हैं और यह शिकायत करते हैं कि उनके कथानक यथार्थ से कोसों दूर होते हैं और उनके पात्र

काल्पनिक होते हैं, तो यह यथार्थ के सीमित अवलोकन पर आधारित [illegible] प्रतीत होती है। यथार्थ को इस तरह सीमित करने और घटा देने की [illegible] मनोवैज्ञानिक यथार्थ को अलग कर देने में होती है— वह मत जो किसी [illegible] का अंदरूनी जीवन माना जाता है। या, परिकथाओं पर बर्नो बेटलहेम के [illegible] का [illegible] किया जाये तो हिन्दी फ़िल्में बौद्धिक अर्थ में अवास्तविक हो सकती हैं पर निश्चित रूप से वे असत्य नहीं होतीं। बाह्य जगत् का उनका चित्रण दोषपूर्ण भले ही हो, पर जैसा कि हम देखेंगे सचेतनता की साथ महसूस की गयी [illegible] के बजाय अवचेतन के साथ महसूस की गयी फंतासी पर उनके केन्द्रीकरण में हिन्दी फ़िल्म आकांक्षा की स्थलाकृति की एक विश्वस्त और अचूक पकड़ दर्शाती है। इनमें वर्णित कहानियों में दोहराव हो सकता है, वे संख्या में सीमित हो सकती हैं जिनमें आसानी से समझ में आने वाले अर्थ होते हैं, जो बजाय सांस्कृतिक [illegible] को चुनौती देने के उसे सतह पर बल देते हैं। पर [illegible] हालांकि वह भी दोहराव की उतनी ही दोषी हैं, इतनी [illegible] नहीं [illegible] और सांस्कृतिक में मानव सम्बन्धों के सचेतन सामाजिक समझ को [illegible] दिखाई देती है।

[illegible] सिनेमा, संस्कृति और मानस के बीच सम्बन्ध वर्णित करने [illegible] की मनपसन्द कथा की ओर मुड़ना चाहूँगा, जो कि प्रेमकथा [illegible] प्रेमकथा मैं यहाँ वर्णित करना चाहता हूँ वह पिछले बीस साल में [illegible] ऑफिस पर सबसे अधिक सफल होने वाली फ़िल्मों का निचोड़ है।[9] चूँकि [illegible] सारी फ़िल्मों की कथा को वर्णित करना असंभव भी है और बोझिल भी, इसलिए मैं सिर्फ़ एक फ़िल्म को ही निर्देशी पांडुलिपि के रूप में लूँगा। और वह फ़िल्म है **राम तेरी गंगा मैली** जो वर्ष 1986 की बॉक्स ऑफ़िस पर सर्वाधिक सफल फ़िल्म रही है। साथ ही साथ मैं हिन्दी सिनेमा की प्रेमकथा को विस्तार देने और पूर्ण करने के लिए अन्य फ़िल्मों के लिए उदाहरण भी देना चाहूँगा।

फ़िल्म का नायक नरेन्द्र कलकत्ता के एक कॉलेज़ में पढ़ता है। वह संपन्न पर [illegible] व्यवसायी का पुत्र है। उसके पिता के घनिष्ट मित्र भाग चौधरी एक कुटिल राजनेता हैं और उनकी इकलौती पुत्री राधा नायक के प्रति रूमानी भावनाएँ रखती है। नरेन्द्र राधा की इन रूमानी भावनाओं से अनभिज्ञ रहता है। वह उसके द्वारा डोरे डालने के बावजूद उसकी उपेक्षा करता है और एक अकामुक मित्रता बनाये रखता है। नरेन्द्र कॉलेज़ की पिकनिक में गंगोत्री पहुँचता है जहाँ हिमालय की पहाड़ियों पर गंगा का उद्‌गम है उसने अपनी स्नेहिल दादी को वचन दिया था कि वह उनके लिए गंगा के उद्‌गम से पवित्र गंगाजल लेकर आयेगा, क्योंकि जब तक गंगा कलकत्ता के पास समुद्र तक पहुँचती है तब तक उसका जल प्रदूषित हो चुका होता है। एक पहाड़ी तट पर नरेन्द्र झुकता है, पर उसका पात्र उसके हाथ से फिसल जाता है और ढ़ाल पर फिसलने लगता है। जब नरेन्द्र पात्र को पकड़ने के लिए भागता है तब फ़िल्म नायिका गंगा की चेतावनी की वजह से वह एक चट्टान से गिरने से बच जाता है। गंगा एक युवा, सुन्दर पहाड़ी लड़की है जो सीधी-सादी



भोली-भाली और मासूम है। वह शहरी लड़के के प्रति अपने प्रेम की स्पष्ट अभिव्यक्ति देती है। अधिकतर गंगा ही इस प्रेम प्रसंग में पहल करती है। वह सदा उसका हाथ पकड़कर उसे पहाड़ों की सैर करवाती है। नंगे पैर घूमती यह लड़की ठंड से अप्रभावित है, जबकि नरेन्द्र लड़खड़ाता भी है और काँपता भी है। फूलों से लदे बागों में गाने गाते हैं और पानी में आमोद-प्रमोद करते हैं, जिससे गंगा की झीनी सफ़ेद साड़ी गीली हो जाती और उसके उन्नत वक्षस्थल को स्पष्ट रूप से उभारती हुई उससे चिपक जाती है। नरेन्द्र गंगा को अपने कॉलेज़ के एक मित्र से बलात्कृत होने से बचाता है, जिस वजह से गंगा नरेन्द्र को दिल की गहराइंयों से चाहने लगती है।

यद्यपि गंगा का विवाह एक पहाड़ी लड़के से तय हो चुका होता है, पर वह सगाई को तोड़ने और नरेन्द्र से विवाह करने का निर्णय लेती है। विवाह संसार के पूर्व एक उत्तेजक लोक नृत्य है और उसके पश्चात् सुहागरात का दृश्य। कमरे के भीतर नरेन्द्र गंगा को उसी गुरुत्व और भक्ति भाव से अनावृत करता है जिस तरह से एक पुजारी किसी देवी की मूर्ति को सुबह की पूजा के लिए तैयार करता है। गंगा का भाई और वह युवक जिससे गंगा की सगाई टूटी है, बाहर एक कातिलाना लड़ाई में संलग्न हैं जिसका अंत दोनों की मौत से होगा।

नरेन्द्र कलकत्ता जाते समय गंगा को यह वचन देता है कि वह जल्द ही अपने घर वालों को इस विवाह की जानकारी देकर गंगा को जल्द ही कलकत्ता बुलवा लेगा। वहाँ पहुँचते ही नरेन्द्र को मालूम पड़ता है कि उसकी दादी ने उसकी अनुपस्थिति में राजनेता की पुत्री राधा से उसकी सगाई कर दी गयी है और दोनों परिवार इस विवाह से खुश है।

नरेन्द्र और उसके घर वालों के बीच होने वाले कई भावुक दृश्यों के बाद, जिस दौरान नरेन्द्र की दादी दिल का दौरा पड़ने की वजह से मर जाती हैं, नरेन्द्र अपने परिवार की इच्छा के विरुद्ध गंगा को लाने पहाड़ के लिए रवाना हो जाता है। चौधरी के राजनीतिक प्रभाव की वजह से पहाड़ पर पहुँचने से पहले ही नरेन्द्र को पुलिस बलपूर्वक बस से उतारकर कलकत्ता पहुँचा देती है। इसी बीच नरेन्द्र की दादी का नरेन्द्र को लिखा गया पत्र गंगा को मिलता है। इस पत्र से गंगा को नरेन्द्र की सगाई के बारे में परिवार वालों की योजना पता पड़ती है। गंगा को यह ग़लतफ़हमी हो जाती है कि उसके पति का दूसरी स्त्री से विवाह हो गया है। उनकी सुहागरात के परिणामस्वरुप गंगा बच्चे को जन्म देती है। चूँकि हिन्दू परम्परा में बच्चे पिता की संपत्ति होते हैं इसलिए गंगा यह निर्णय लेती है कि वह शिशु को कलकत्ता ले जाकर नरेन्द्र को सौंप देगी। यहाँ से गंगा के जीवन में संकट आना शुरू हो जाते हैं, उसे एक सस्ते वेश्यालय में पहुँचा दिया जाता है। फिर उसे एक ग्राहक को बेच दिया जाता है जो बलात्कार करने की कोशिश करता है पर गंगा बच्चे को अपनी छाती से लगाये हुए किसी तरह बच निकलती है। फिर वह एक बूढ़े पुजारी से स्टेशन का रास्ता पूछती है। वह भी कामुक निकलता है। गंगा की मदद करने के लिए सौभाग्य से एक सहृदय पुलिस अफ़सर आ जाता है जो उसे कलकत्ता जाने वाली रेल में बिठा देता है। पर रास्ते में ही गंगा एक चालबाज़ के चक्कर में

फँसकर बनारस के कोठे पर पहुँच जाती है। जहाँ पर ग्राहकों का स्वागत भारतीय गणिका की पारंपरिक शैली में नाच-गाने से किया जाता है। गंगा एक कुशल नर्तकी के रूप में ख्याति अर्जित कर लेती है, पर निष्कलंक और पावन बनी रहती है। उसकी पावनता "गंगा की पावनता है जो एक नारी के हृदय में स्थित है, जो पुरुष को अपनी ओर आकर्षित करती है, सम्मिलन के लिए लुभाती है।"



कोठे का मालिक गंगा को चौधरी को बेच देता है, जो बनारस इसलिए आता है कि जीवन के अंतिम दौर में उसका साथ देने के लिए उसे कोई लड़की मिल जाये। चौधरी, जो उसके पति का होने वाला ससुर है, लड़की को कलकत्ता में एक घर में रखता है और एक दिन नरेन्द्र के पिता को उसके रूप की झलक दिखाने के लिए लाता है चौधरी उससे यह वादा भी कर लेता है कि बच्चों की शादी हो जाने के बाद वे दोनों मिलकर गंगा को भोगेंगे। शादी के दिन, चौधरी मेहमानों को खुश करने के लिए गंगा को नाचने के लिए कहता है। नाचती-गाती गंगा को नरेन्द्र पहचान लेता है और विवाह संस्कार अधूरा छोड़कर गंगा के पास पहुँच जाता है। उसके पिता ख़ासकर चौधरी व उसके गुण्डे उसे रोकते हैं, पर अंततः नरेन्द्र और गंगा का मिलन होता है। अपने बच्चे के साथ से एक पतित बूढ़ी पीढ़ी के भ्रष्टाचार से दूर एक आशाजनक नये भविष्य की ओर निकल पड़ते हैं।

सतही तौर पर देखा जाये तो **राम तेरी गंगा मैली** एक सदा-सर्वदा पावन नारी की मसालेदार कथा है जिसकी तपस्या, पावनता और मासूमियत कामुक (ख़ासकर अधेड़ या वृद्ध) पुरुषों के शोषण करने के प्रयासों पर भारी पड़ती है। जैसे विश्लेषणात्मक घंटे में सुनने के लिए तीसरा कान अनिवार्य होता है, उसी तरह फ़िल्म की छका देने वाली सतह को कम सुस्पष्ट नमूनों में विभाजित करने के लिए

विश्लेषक को तीसरे नेत्र की आवश्यकता पड़ती है। शिव का तीसरा नेत्र सम्पूर्ण यथार्थ को नष्ट करता है पर फ्रॉयड की तीसरी आँख जो सिर्फ़ यथार्थ की पथरीली सतह को चटखाकर फंतासी के अंदरुनी आकार को मुक्त करती है। उस स्वप्न देखने वाले की तरह जो न सिर्फ़ अपने स्वप्न का लेखक, निर्माता और निर्देशक होता है बल्कि उनमें सभी महत्वपूर्ण भूमिकाएँ भी निभाता है, फ़िल्म का निर्माता-दर्शक-वर्ग भी हीरो या हीरोइन के शरीर तक ही अपने को सीमित नहीं रखता बल्कि अन्य पात्रों को भी अपने में सँजोये रखता है। विश्लेषक यह भी ध्यान में रखेगा कि अबला गंगा के प्रति दर्शक की प्रत्यक्ष करुणा की भावना तो उपजेगी ही, साथ में दर्शक खलनायकों की कामुक चेष्टाओं से छिपा हुआ आनंद भी प्राप्त करेंगे। तीसरा फ़िल्म के पात्रों के व्यक्तित्वों को नष्ट करते हुए उसके स्थान पर एक बच्चे के आंतरिक पारिवारिक नाटक को प्रत्यारोपित करता है। स्क्रीन पर बच्चे को अपनी छाती से चिपकाये हुए गंगा बचपन की स्वप्नचित्रीय माँ बन जाती है, दूसरी तरफ़ खलनायकों के चेहरे **ख़राब** आक्रामक पिता के चेहरे में विलीन हो जाते हैं जो दयनीय माँ को अपनी कामुकता का शिकार बनाता है।

चार दशक पहले राजकपूर की **बरसात** में रेशमा (नरगिस) भी एक पहाड़ी लड़की है और उसी से मिलती-जुलती गंगा की नायिका का नवीनतम पुनर्जन्म है जो उस नायक के प्रति पूर्णतः निष्ठावान है जो निश्चेष्ट है, अनुपस्थित है या दोनों है। काम के पुष्पगुच्छों से आबद्ध तीर से आहत होने से पहले स्वतंत्र और चिंतारहित नायिका प्रेम में पड़कर दुख और अपमान उठाती है ख़ासकर कामवासना सम्बन्धी। वस्तुतः उसका दुख, लैला और सोहनी जैसी दंतकथाओं की नायिकाओं की तरह, खुलकर प्रेम करने और सामाजिक मर्यादा तोड़ने का एक दंड मालूम होता है। बलात्कार या बलात्कार का प्रयास उस अपमान के स्याह बिम्ब की सबसे प्रबल अभिव्यक्ति है जिसके द्वारा अतिक्रमण संभव हो सकेगा। प्रश्न यह उठता है कि भारतीय सिनेमा में बलात्कार एक प्रधान लक्षण क्यों है जबकि समाज में तो चुम्बन भी प्रतिबंधित है। प्रेम की फंतासी में नारी का कामुक अपमान इतनी महत्वपूर्ण भूमिका क्यों निभाता है, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यह तो चाक्षुष प्रतिनिधित्व से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह बलात्कार एक फंतासी बलात्कार होता है, जिसमें न तो वास्तविक जीवन में होने वाले बलात्कारों जैसी हिंसा होती है न ही उसके बाद उपजने वाला मानसिक आघात। खलनायक आँखें फाड़कर बंद कमरों में "अब तुम बच नहीं सकतीं" जैसे संवाद बोलते हैं, हीरोइन के कपड़े का एक टुकड़ा फाड़ने में क़ामयाब हो जाते हैं, दूसरी तरफ़ नायिका आंतकित होकर पीछे हटती है, उसके दोनों हाथ उसकी छाती पर होते हैं और वह अपनी पवित्रता की दुहाई देकर बार-बार खलनायक से अनुरोध करती है कि वह मृत्यु से भी अधिक भयावह इस कृत्य को न करे। महाभारत में दुशासन द्वारा द्रोपदी की साड़ी खींचने की ही तरह, यहाँ भी दर्शक-वर्ग एक भयभीत नारी की निरीहता और उसके दर्द में आनंदित होता है।

परपीड़ित कामुकता का सामान्यतया यह अर्थ होता है कि कामसुख की ख़ातिर किसी को पीड़ा पहुँचाना ख़ासकर जब सुख या पीड़ा या फिर दोनों चेतन के बजाय

अवचेतन में पुरुषों के लिए बलात्कार की फंतासी का मूल बचपन के परवर्ती काल में होता है जिसे मैंने कहीं ओर **दूसरा जन्म** कहा है। जब बच्चे के लिए माँ दुर्दमनीय नारी उपस्थिति नहीं रह जाती, बल्कि एक कमज़ोर, पीड़ित और अपमानित व्यक्तित्व के रूप में सामने आती है। भारतीय परिवार में यह बच्चे का नारी यथार्थ से साक्षात्कार का परिणाम कम और इस प्रक्षेपण का परिणाम ज्यादा होता है कि यदि उसने पिता या अन्य बड़े पुरुषों के समक्ष कामवश आत्मसमर्पण किया तो उसका भी यही हाल होगा। जैसे-जैसे बच्चा पुरुष बनता है यह फंतासी अधिकाधिक दबायी जाती है और अवचेतन में ढकेल दी जाती है। सिनेमा हॉल के गुहामय अँधेरे में यह फंतासी संकोच से उभर सकती है और साथ ही सम्बन्धित परपीड़क-कामुकता का सुख भी अप्रत्यक्ष रूप में उस नारी के दर्द में उठाया जा सकता है जिसके प्रति आप दिल में सहानुभूति रखते हैं।

दर्शकवर्ग की महिलाओं पर बलात्कार के दृश्य का प्रभाव जटिल है इस बात के बावजूद कि फ़िल्मों में दिखाये जाने वाले बलात्कार काफ़ी रूढ़ शैली के होते हैं और यथार्थ से कोई ताल्लुक नहीं रखते। एक तरफ़ तो कामुक अवपीड़न नारी के रूप में उसके गहनतम भय को स्पर्श करता है, दूसरी तरफ़ हमें यह भी देखना होगा कि कामुक फंतासी की कम चेतन उपस्थिति इस कारण होती है क्योंकि भारतीय सिनेमा के खलनायक अक़सर अधेड़ होते हैं जिन पर नारी किसी न किसी तरह आश्रित होती है जैसे अफ़सर या ज़मींदार। **राम तेरी गंगा मैली** में बलात्कार का प्रयास करने वाले है पुजारी, शक्तिशाली चौधरी और गंगा के पति के ससुर कई अन्य फ़िल्मों में बलात्कारी के मुखौटे के पीछे हिंसा का चेहरा साफ़-साफ़ दिखाई देता होता है। 1979 में बॉक्स ऑफ़िस पर सफल होने वाली फ़िल्म **कर्ज़** में नायिका का पिता अपनी सौतेली पुत्री का एक बनावटी बलात्कार मंचित करता है ताकि वह नायक की बहादुरी को जाँच सके। वेंडी ओ फ्लेहर्टी इस दृश्य को पुरातन मिथक से जोड़ते हैं जिसमें ब्रह्मा अपनी पुत्री पर बलात्कार करने की चेष्टा करते हैं। जब तक कि नायक शिव उनकी रक्षा के लिए नहीं आ जाते। उनकी मान्यता है कि यह चिर-परिचित मिथक हिन्दू ग्रंथों में सकारात्मक रूप में स्वीकार किया जाता है, जिसके अनुसार जीवों का जन्म पिता और पुत्री के कौटुम्बिक व्यभिचार से हुआ। दूसरी तरफ़— पौराणिक मिथकों के साथ-साथ सांस्कृतिक मनोविज्ञान भी जोड़ते हुए, अधेड़ों द्वारा बलात्कार की फंतासी के प्रति नारी के आकर्षण को मैं भारतीय नारी की किशोरावस्था से जोड़ना चाहूँगा। यह शायद लड़की के जीवन का सबसे कष्टदायक दौर होता है जब उससे त्याग और बलिदान की अपेक्षा की जाती है और जब उसे किसी भले घर की बहू बनने का प्रशिक्षण दिया जाता है, जिससे आगे चलकर मायके वालों को नीचा न देखना पड़े। मनोविश्लेषण से यह बात पता पड़ती है कि इस काल में किशोरी अपने पिता से अंतरंगता चाहती है जिसमें एक तरफ़ तो उसे बच्ची के रूप में प्रेम दिया जाये और दूसरी तरफ़ एक युवा नारी के रूप में उसके नारीत्व को पहचाना, सराहा जाये और उसके प्रति उचित प्रतिक्रिया की जाये। कुछ हद तक यह महिलाओं की सर्वव्यापी फंतासी होती हैं जिसका कारण यह होता

है कि लड़की के पहली बार रजस्वला होने के बाद पिता-पुत्री से कटने लगता है और यह सोचता है कि अब उसे अपनी पुत्री से शारीरिक निकटता प्रदर्शित नहीं करना चाहिए ख़ासकर तब, जब उसकी पुत्री उसमें कामुक भावनाएँ जागृत करती है। पुत्री नारी के शरीर में अभी अटपटा ही महसूस कर रही होती है और पिता के इस व्यवहार से उसे लग सकता है कि यह उसके अनाकर्षक व्यक्तित्व के कारण है। पुत्री को इस समय पूरी तरह महिला जगत् को सौंप दिया जाता है जो उसके लिए बड़ा कष्टदायक होता है। पिता के द्वारा बलात्कार अंतरंगता की अति इच्छुक पुत्री का प्रतिबंधित कामुक पहलू है। पिता के द्वारा पहना गया डरावना मुखौटा पुत्री की स्वयं की खलनायिका इच्छा का प्रक्षेपण है जो उसे इस अपराध-बोध से भी मुक्त करता है। इस फ़िल्म का नायक नरेन्द्र एक निश्चेष्ट, बालसुलभ चरित्र है जो अपने बड़े-बूढ़ों के समक्ष आसानी से झुक जाता है जब वे प्रेमियों के मिलन में बाधक होते हैं। वह आमतौर पर लोकप्रिय उस रूमानी नायक की तरह नहीं है जो विरह की वेदना या प्रेम में असफलता को एक अतिमानवीय गहनता से झेलता था। इस तरह का नायक भारतीय फ़िल्मों में आज से बीस साल पहले काफ़ी लोकप्रिय था। चूँकि भारत में कुछ भी ख़त्म नहीं होता चाहे वह धार्मिक पंथ हों, राजनीतिक दल हों मिथकीय मूल हों। इसी तरह रूमानी प्रेमी भी अभी मौजूद है, हालाँकि इन दिनों वह शिखर पर नहीं है। मेरी पीढ़ी के लिए **देवदास** में दिलीप कुमार और **प्यासा** में गुरुदत्त इस तरह के प्रेमियों की अविस्मरणीय छवि हैं। इस तरह के प्रेमियों का मैं इस्लामी रोमांस के प्रसिद्ध प्रेमी मजनूँ प्रेमी के नाम से सम्बोधित करना चाहूँगा, सांस्कृतिक उद्‌गम इस्लामी और हिन्दू धाराओं के संगम में है। भारतीय पारसी ग़ज़ल में भी इस तरह के प्रेमी की रुचि है विरह गीत जिनमें प्रेमी अपनी प्रेयसी की उदासीनता, अभाव, अगम्यता का वर्णन करता है और संस्कृत और तमिल की विरह कविता में भी — जिसका सबसे अच्छा उदाहरण है कालिदास का **मेघदूत** ।
कहीं और मैंने मजनूँ-प्रेमी के मनोवैज्ञानिक उद्‌गम को बचपन की निरंकुश पर अतिसंवेदनशील कामुक इच्छाओं के हिस्से के रूप में ज़िक्र किया है।[8] उसकी इच्छा नारी के साथ सम्पूर्ण मिल की है, उसका दर्द उस बच्चे के आर्तनाद की तरह है जिसे अपनी माँ की अनुपस्थिति में अपना अस्तित्व विघटित होता प्रतीत होता है। प्रेम में वह वही पुनः खोजना और हासिल करना चाहता है जो पूर्वव्यापी स्वर्ग की क्षति प्रतीत होती है— मनोवैज्ञानिक उत्पत्ति के पहले जीवन की प्रसवेत्तर कोख, इसके पहले कि उसका माँ से अलगाव हुआ। ये इच्छाएँ प्रत्येक मनुष्य के कामुक जीवन का हिस्सा होती हैं और यह आधुनिक पश्चिमी पुरुष का लैंगिक भ्रम ही है जो इसके औचित्य या यथार्थ को मानने से इन्कार कर देता है।

रोमांटिक प्रेमी का प्रेम पूर्णतः आत्मिक होता है, वह प्रेम के दुख और उसकी महानता पर कवित्तपूर्ण वाक्यांश गढ़ने में कुशल होता है। कोठा हिन्दी सिनेमा में नकारे गये, दबाये गये कामुक आवेगों का पसंदीदा निवास और चरित्रहीनों का घर होता है। कभी-कभी कोठे की जगह नाइट क्लब भी हो सकता है जिसे पश्चिम से आयात किया गया है। कोठे में शराब के साथ-साथ उत्तेजक संगीत और नृत्य

भी होता है। कोठे के इस वातावरण का हीरो के अलावा सभी आनंद उठाते हैं, चाहे वह खलनायक हो या नायक के मित्र। स्वयं रोमांटिक प्रेमी के लिए कोठे के कामुक सुख अपराधबोध से ग्रसित होते हैं, और शराब के नशे में ही भोगे जाते हैं।

भारतीय फ़िल्मों का दूसरा प्रमुख नायक है— कृष्ण-प्रेमी। कृष्ण-प्रेमी मजनूँ प्रेमी से अलग होता है, पर किसी फ़िल्म में दोनों अलग होने के बजाय अनुवर्ती भी हो सकते हैं। कृष्ण-प्रेमी शारीरिक रूप से ''ठी होते हैं जो महिलाओं से छेड़छाड़ करता है और महि ाओं से जिसका शुरुआती सम्बन्ध कामुक उत्पीड़न के क़रीब होता है। नहाती हुई गोपियों के व., छुपा देने और उनकी मानसगुहार के बाद भी इन्कार करने में शरारती कृष्ण माहिर थे। 1950 के दशक में देव आनंद से (ख़ासकर) 60 के दशक में शम्मी कपूर तक और आज जितेन्द्र तक कृष्ण-प्रेमी नायिका के चारों ओर घूमता रहना है जो शुरू में नाराज़ होती है, हठी होती है और नायक के लैंगिक अन्तर्वेधन के उस पर पड़ने वाले प्रभाव से अनभिज्ञ रहती है। कृष्ण प्रेमी में ईडिपस अवस्था की संध्या पर बैठे बालक की आत्मासक्ति है, जब जगत् उसकी शक्ति महसूस करता है। वह नायिका का ध्यान अपनी ओर खींचने के हर संभव प्रयास करता है— आक्रामक वक्रोक्तियों द्विअर्थी संवादों, नाच-गाने, अनपेक्षित जगहों पर उसके साथ छेड़-छाड़ करने के लिए अकस्मात् प्रकट हो जाना। बल्कि जितना प्रेमी की हरकतों से चिढ़ती है, उतना अधिक वह आनंदित होता है। जैसा **आराधना** के नायक का कथन था, ''प्यार में मज़ा तभी आता है जब औरत गुस्सा हो।''

कृष्णप्रेमी के लिए यह आवश्यक है कि महिला कामवासना से अनजान हो और नायक की इच्छा को पहचानने के बहाने स्वयं अपनी इच्छा को पहचानने में सफल हो। वह साक्षात् लिंग है, जो जिसमें कौंधक के सुस्पष्ट तत्व हैं, और जिसे नारी द्वारा अपनी शक्ति, अखंडता और ठंडी औरत को कामुक नारी में बदलने के जादुई गुणों की लगातार आश्वस्ति चाहिए। यह लिंग फंतासी है— अपनी फ़िल्मों में शम्मी कपूर अपने पूरे शरीर को एक अंग की तरह प्रयोग में लाता है— ग़ैर मिलनसार नारी के गर्व को चूर-चूर करता है, उसकी उदासीनता को पिघलाता है और उसकी नफ़रत को समर्पण और चाहत में बदल देता है। यह फंतासी प्रफुल्लित उभय-लिंगी कुँआरी के अपनी कामुकता के प्रति जागृत होने की कथा है। इसके पहले वह नायक की ही तरह चुलबुली कल्पना को पेश कर सकती है। इस तरह **जंगली** में पहाड़ी लड़की— यह भारतीय फ़िल्मों का जादुई फंतासी जगत् है, जहाँ सामान्य क्रम उलट जाता है— नायक को बर्फ़ के ढेले मारती है, उसे चिढ़ाती है, गाने गाती है, और इस तरह पुरुष की लिंग पूजा को प्रतिलोम में प्रस्तुत करती है, और अब नायक की बारी आती है कि वह उत्तेजित हो और अनिच्छुक प्रेमी की भूमिका अदा करे।

भारतीय सिनेमा के पीछे पंद्रह वर्ष अमिताभ बच्चन द्वारा प्रभावित और अभिभूत किये गये हैं जिसने हमें एक नयी तरह का नायक, नयी तरह का प्रेमी दिया है। उसकी ज़बर्दस्त सफल फ़िल्मों ने एक नयी धारा का सूत्रपात किया है जो हालाँकि हॉलीवुड की एक्शन फ़िल्मों से जैसे क्लिंट ईस्टवुड की फ़िल्मों से प्रभावित है, पर

इसके बावजूद न तो पूरी तरह पश्चिमी हैं न ही पारंपरिक भारतीय हैं।

बच्चन नायक एक अच्छा-बुरा नायक है जो समाज के हाशिये पर रहता है उसके लगाव बहुत थोड़े हैं, पर जितने भी हैं वे दृढ़ और मूक हैं। त्वरित हिंसा या फिर *निवर्सन* के विचारमग्न काल के प्रति प्रवृत्त यह अच्छा-बुरा नायक एक स्वाभाविक कानून तोड़ने वाला होता है पर जो अपने खुद के कठोर नैतिक कानून का पालन करता है। यह अधिकतर अपराधी-वर्ग का एक हिस्सा होता है पर उसका क्रूर या कामुक ज़्यादतियों में हिस्सेदारी नहीं करता। यदि इस नायक को पुलिस वाले की भूमिका दी जाती है तो वह ढीले-ढाले अफ़सरशाही के तौर-तरीक़ों को त्यागकर कानून को अपने हाथ में ले लेता है और अपराधियों से अपने क्रूर तरीक़ों से निपटता है। उसकी बुराई जन्मजात न होकर बचपन के वंचन की एक प्रतिक्रिया होती है जैसे माँ की मृत्यु, अनुपस्थिति या नायक के प्रति माँ के प्रेम का अभाव। अच्छे-बुरे नायक का सांस्कृतिक समरूप हमें **महाभारत** में कर्ण के मिथक में मिलता है। पाँडवों की होने वाली माँ अविवाहित राजकुमारी कुन्ती सूर्य को मंत्रों से बुलवाती हैं। यद्यपि सूर्य देव को उनका आमंत्रण सिर्फ़ एक जिज्ञासापूर्ण मौज़ थी— वह केवल मंत्र का परीक्षण कर रही थीं— देवता ने इस बात पर ज़ोर दिया कि इस आमंत्रण का अर्थ गहरा है। कर्ण दोनों के मिलन से उत्पन्न पुत्र था। कर्ण के अवैध जन्म को छुपाने के लिए कुन्ती ने उसे नदी में बहा दिया। जब एक सारथी ने उसे बचाया और कर्ण एक बड़े योद्धा के रूप में बड़ा हुआ और दुष्ट दुर्योधन का समर्थक बना। युद्ध की पूर्व संध्या पर कुन्ती ने कर्ण के समक्ष उसके जन्म का रहस्य खोला और उससे कहा कि दुर्योधन के पक्ष में युद्ध करने का अर्थ होगा— भ्रातृहत्या। कर्ण का उत्तर था— "ऐसा नहीं है कि मैं आपका विश्वास नहीं करता, पर आपने मुझे त्यागकर मेरे साथ जो अन्याय किया है, वह अपूरणीय क्षति है। क्षत्रिय कुल में जन्म लेने पर भी मुझे आज तक सम्मान नहीं मिला। मेरा बड़े से बड़ा दुश्मन भी मुझे इतनी क्षति नहीं पहुँचा सकता था जितनी आपने पहुँचाई। आज से पहले तो कभी इस रहस्य को उद्घाटित कर मुझे संबल नहीं दिया। आज से पहले तो कभी आपने एक माँ की तरह मेरे हितों की रक्षा नहीं की, और अब, आप अपने स्वार्थ के लिए अपने मातृत्व का उपयोग करने की आकांक्षा से मुझे यह रहस्य बतला रही हैं।[9]

अंततः कर्ण ने अपनी माँ को वचन दिया कि युद्धभूमि में वह सिवा अर्जुन के किसी अन्य कुन्तीपुत्र की मृत्यु का कारण नहीं बनेगा।

अच्छा-बुरा बच्चन नायक भारतीय समाज में हो रहे विकास और आधुनिकीकरण के तनावों, दबावों और प्रक्रिया के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया भी है और उन्हीं की उत्पत्ति भी, जो पिछले दो दशकों में तीव्र हो गयी है। इस तरह से वह असंख्य लोगों के मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों को दर्शाता है जो परवर्ती क्षेत्र में हैं जो भारतीय समाज के लघु, (पर आर्थिक और राजनीतिक रूप से सशक्त) आधुनिक और बहुसंख्यक पारंपरिक समुदाय के बीच में हैं। वस्तुतः बच्चन फ़िल्मों के अधिकांश दर्शक इसी परवर्ती क्षेत्र से होते हैं। अच्छे-बुरे नायक के वैयक्तिक लक्षण जो मैंने दर्शाये हैं

उन्हें आधुनिकीकरण के दौरान परवर्ती क्षेत्र द्वारा अनुभूत प्रधान मनोवैज्ञानिक कठिनाईयों से सीधे सम्बद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर शहर में जनसंख्या के अधिक घनत्व और चीड़ के प्रभाव को लें, ख़ासकर झुग्गियों में। यहाँ पर, स्थापित सांस्कृतिक मानदण्डों के अभाव में जबकि यह आवश्यक हो जाता है कि आप अजनबियों से सावधान रहें और स्थायी मानसिक संघटन की अवस्था में रहें, अपनी आक्रामकता पर घटे नियंत्रण की पूर्ति करते हुए बढ़ती स्नायविक उग्रता अच्छे-बुरे नायक का एक परिणाम और लक्षण है।

फिर अफ़सरशाही और उसकी अमानवीयता है जो आर्थिक विकास की अपरिहार्य उपसाध्य प्रतीत होती है। रोज़मर्रा के जीवन के अफ़सरशाही से बारम्बार अपमानित होने की वजह से पूर्ण अलगाव या अपने अपमानों के प्रतिशोध की फंतासियाँ उपजती हैं और नायक अपने व्यक्तिगत व सामाजिक हितों की रक्षा करता है चाहे इसका अर्थ कानून को अपने हाथ में लेना ही क्यों न हों।

इसके अलावा, परवर्ती क्षेत्र में पारंपरिक भूमिकाओं और हुनर का विघटन उन लोगों के स्वाभिमान को नष्ट कर सकता है जिनका आर्थिक आमदनी और सामाजिक प्रतिष्ठा में कमी से अचानक साक्षात्कार होता है। प्रभावित परिवारों, ख़ासकर बच्चों में, स्थापित जगत् के स्थायित्व में विश्वास का अभाव उपज सकता है। संदेह उठते हैं कि क्या कड़ी मेहनत और सावधानीपूर्वक नियोजन सुरक्षित भविष्य की गारंटी दे सकते हैं।[10] बच्चन नायक के लिए भविष्य नगण्य है क्योंकि उसका न तो व्यवस्थित परिवार है न ही वह किसान, शिल्पी जैसे किसी अभिज्ञान समुदाय का है। यह नायक मनुष्य के सफलता सम्बन्धी उस सामूहिक स्वप्न को सम्मिलित करता है जिसमें बिना परिश्रम के व्यक्ति सफल होता है और वर्तमान में जीता है।

इस व्यक्तिचित्र का अंतिम लक्षण है अच्छे-बुरे नायक की मूल उदासी। बड़े पैमाने पर, इसे जनसंख्या की हलचलों का प्रभाव कहा जा सकता है जो आर्थिक विकास के दौरान हुई। परिवारों के अलगाव, चिर-परिचित गाँव की याद और परिवेश का छूट जाना कइयों को लगभग वंचन जैसा लगता है। कई बार माँ के अलगाव की विषयवस्तु के रूप में मूर्त्त होने वाली दुख और वंचन की यह भावनाएँ बच्चन नायक में प्रतिबिम्बित होती हैं और उसके लाक्षणिक अवसादक अनासक्ति का कारण होती हैं जिनमें दर्शक स्वयं के एक हिस्से को पहचान सकते हैं।

एक प्रेमी के रूप में अच्छा-बुरा नायक न तो मजनूँ की तरह प्रकट रूप में भावुक होता है और न ही कृष्ण की तरह चपल लैंगिक होता है। नियंत्रित भावावेग, कुछ हद तक अनासक्त वह उर्दू कवि फ़ैज़ की इन प्रसिद्ध पंक्तियों को जीता प्रतीत होता है "और भी ग़म हैं जमाने को मोहब्बत के सिवा।" बच्चन की हिट फ़िल्म **दीवार** जिसकी बार-बार नक़ल की गयी है, नायक और नायिका की पहली मुलाक़ात इस नायक की प्रेमी भूमिका का मूल निचोड़ लिये हुए है। एक रेस्तराँ-नाइट क्लब में गंभीर बच्चन बार में बैठा है। अनीता (परवीन बॉबी) एक नर्तकी है (वह वेश्या जिसका दिल सोने का है) जो उसके पास आकर बैठ जाती है। वह उसकी सिगरेट जलाती है और उससे कहती है कि वह बार में बैठा सबसे सजीला नौजवान है।

बच्चन, जिसे खलनायक से कुछ ही देर बाद मुक़ाबला करने जाना है, उदासीन भाव से उसके द्वारा की गयी प्रशंसा को अपना अधिकार मानकर ग्रहण करता है जबकि वह उसकी कामुक उत्तेजना को पूरी तरह उपेक्षित करता है। वास्तव में नार्सीसस की तरह अनासक्त इस प्रेमी के अपने परिजनों और सबसे घनिष्ठ मित्र से सम्बन्ध अधिक भावनात्मक हैं बजाय किसी भी औरत के जो उसकी संभावित कामोद्दीपक सहभागी है। इसमें आश्चर्य की क्या बात है कि शशिकपूर को, जिन्होंने कई फ़िल्मों



में नायक के भाई या घनिष्ठ मित्र की भूमिका अदा की है, अभिताभ बच्चन की पसंदीदा नायिका कहा जाता है। क्रियाशील प्रणय में आने वाली ज़िम्मेदारी और प्रयासों, किसी नारी पर निर्भरता से भयभीत— जो जीवन के शुरुआती दौर से उपजती है— अनासक्त नायक प्रेम किये जाने के बजाय सराहा जाना अधिक पसन्द करता है। उसके लिए यह जानना ही पर्याप्त है कि नायिका उसके प्रति पूर्णतः निष्ठावान है और यह निर्णय उसके हाथ में है कि उसका साथ निभाये या छोड़ दे। यह फंतासी माँ की भूमिका निभाने वाली औरत के प्रति प्रतिशोध है जिसने या तो किसी और को अधिक चाहा जैसे **दीवार** में उसके भाई को— या बच्चे को सिर्फ़ शर्तबंद प्रेम किया और सतत् प्रशंसा नहीं दी।

फ़िल्मों के इस नये दौर ने एक नयी तरह की नायिका को जन्म दिया है जो कई अर्थों में, जैसा वोल्फ़ेन्स्टीन और लेईटीज़ ने कहा है, अमरीकी फ़िल्मों की 1940 और 1950 की पुरुषोचित लड़की है।[11] कृष्ण जैसे सखा की मासूम चपलता के अभाव में उसके पास मजनूँ प्रेमी का साड़ी में लिपटा नारीत्व भी नहीं होता (अधिकांशतः वह जींस में होती है)। बच्चन फ़िल्मों की कई विनिमेय नायिकाओं की तरह वह नायक का रूमानी कामोद्दीपक प्रतिपक्ष होने के बजाय उसकी कनिष्ठ सहयोगी अधिक होती है।



एक पुरुष की भाषा बोलती हुई इस नारी को आसानी से सदमा नहीं लगता, जिस वजह से इसके साथ नया नायक सहूलियत महसूस करता है। नयी नायिका नारी की मौज, संवेदनशीलता और भावुकता लिए कोई पराया जीव नहीं है, जिसके साथ एक पुरुष असुविधा महसूस करता है, पर जिसे समझने के लिए वह मजबूर है। वह नायक से अधिक कुछ नहीं चाहती और तब पृष्ठभूमि में चली जाती है जब नायक को अधिक महत्वपूर्ण मसले निपटाने होते हैं। परन्तु वह पूरी तरह स्त्रियोचित नहीं है, न ही वह समलैंगिक प्रलोभन का कोई मुखौटा है, जिसका महानगरों की झोंपड़ियों में अपनी पत्नी से दूर रहने वाले पुरुष शिकार होते हैं। वह परवर्ती पुरुष के जीवन में इतरलिंगी प्रेम की निचले स्थान का उदाहरण देती है जिसकी फंतासियाँ प्रेम बजाय हिंसा की कल्पनाओं द्वारा आक्रांत होती हैं। घायल आत्मासक्ति और क्रोध की क्षतिपूर्ति पर अधिक ज़ोर दिया जाता है बजाय पूर्णता की रूमानी आकांक्षा के— जो सिर्फ़ एक औरत ही प्रदान कर सकती है।

भारतीय लोकप्रिय सिनेमा के कुछ स्वप्नों को एक सतही दृष्टि और विश्लेषक के उत्साही पहलू से देखने पर मैं यह निष्कर्ष निकालना चाहूँगा कि परिवार में या लिंगों के बीच स्वप्न या फंतासी इन सम्बन्धों की सांस्कृतिक प्रतिज्ञप्ति से मेल नहीं खाते। कुल मिलाकर, स्वप्न में वह सब समाहित है जो दरारों से सांस्कृतिक फ़र्श पर रिसता है। स्वप्न हमें एक विशिष्ट संस्कृति की व्याख्या देते हैं जिसे ज्वायस मेक्डोगाल ने असंभव और वर्जित कहा है। आकांक्षा के अप्रकाशित मंच, जहाँ इतना अधिक आंतरिक रंगमंच घटित होता है।[12]

(अनुवाद: सुधीर दीक्षित)

टिप्पणी

(1) फ़िल्म मूल्यों का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव; कृपया देखें **कान्टेक्स्ट ऑव् इंडियन फ़िल्म कल्चर:** सतीश बहादुर (पुणे, नेशनल फ़िल्म आर्काइव्ज़ ऑव् इंडिया) और **इंडिया इंटरनेशनल क्वार्टरली** के विशेष अंक **इंडियन पापुलर सिनेमा: मिथ, मीनिंग एंड मेटाफ़र** में संग्रहीत लेख

मिथ

(2) रॉबर्ट जे.स्टोलेर, **परवर्शन** (न्यूयार्क: पेन्थोऑन बुक्स, 1975), 55.

(3) सुधीर कक्कड़, **दि इनर वर्ल्ड: ए साइकोएनालिस्टिक स्टडी ऑव् चाइल्ड हुड एंड सोसायटी इन इंडिया** (दिल्ली: ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1978), अध्याय 3.

(4) अर्जुन अप्पादुरई और केरोल ब्रेक एनरिड्ज़, **पब्लिक कल्चर इन लेट ट्वेंटिएथ सेंचुरी इंडिया** (विभाग, पिटर्सबर्ग: पेन्सीलवानिया विश्वविद्यालय, जुलाई 1986, अप्रकाशित.

(5) ब्रूनो बेट्ट्लहेइम, **दि यूज़ेस इन्वेंटमेंट** (न्यूयार्क: नोफ़, 1976).

(6) कुछेक फ़िल्में हैं **जंगली, बीस साल बाद, संगम, दोस्ती, उपकार, पाकीज़ा, बॉबी, अराधना, जॉनी मेरा नाम, रोटी कपड़ा और मकान, दीवार, जंजीर, शोले, कर्ज़, मुक़द्दर का सिकंदर** और **राम तेरी गंगा मैली.**

(7) वेंडी ओ फ्लाहर्टी, **दि माइथोलॉजिकल इन डिस गुइज़: एन एनालिसिस ऑव् कर्ज़,** (**इंडियन पापुलर सिनेमा**), टॉप 1, ऊपर, 23-30.

(8) सुधीर कक्कड़ और जॉन एम. रॉस, **टेल्स ऑव् लव, सेक्स एंड डेंजर** (लंदन: उन्विन हायमन, 1987), अध्याय 3.

(9) **महाभारत** 5, 144.5-10 जे.ए.बी. वॉन बुइटेनन संस्करण अंग्रेज़ी अनुवाद, दि महाभारत (शिकागो: शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस, 1978)

(10) ई. जेम्स अॅन्थोनी और सी.विलेंड, **दि चाइल्ड इन हिज फेमिली: चिल्ड्रेन एंड देयर पेरेंट्स इन ए चेंजिंग वर्ल्ड** (न्यूयार्क: जॉन विली, 1978) में आधुनिकीकरण के मनोवैज्ञानिक प्रभाव पर विचार-विमर्श.

(11) मार्था वोल्फिंस्टन और नाथान लेइटेस, **मूवीज़: ए साइकोलाजिकल स्टडी** ग्लिएनकोए, III: फ्री प्रेस, 1950).

(12) ज्वायस मेकडोगाल, **थियेटर्स ऑव् माइंड** (न्यूयार्क: बेसिक बुक्स, 1986).

नाराज़ युवा कितना नाराज़ है

फ़रीद काज़मी

जन संचार के दो सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्धान्त — अर्धस्तरीय सिद्धान्त (हाइपोडरमिक थ्योरी) और चयनात्मक प्रत्यक्षण सिद्धान्त (सिलैक्टिव परसेप्शन थ्योरी) को जन संचार अनुसंधान की मुख्य-धाराओं और चिन्ताओं से अत्यधिक प्रेरित है, जिस तरह की अमरीकी समाज विज्ञान व्यवहार द्वारा परिभाषित की गयी है। (1) मूल जन संचार तथा जन समाज के बीच सम्बन्ध को लेकर हुई पहले की चर्चाओं में इस परम्परा की जड़ें जमी हुई थीं; परन्तु इन चिन्ताओं को दर्शक सर्वेक्षण विधि, संख्यात्मक विषय-विश्लेषण और माध्यमों तथा हिंसा के मुद्दे में चीज़ों को क्षुद्र बनाये जाने के ज़रिये सांस्कृतिक मानदण्डों के मूलोच्छेदन के प्रश्नों में डूबे रहने की भावना पर आधारित बड़े पैमाने पर संख्यात्मक रूप से किये गये अमरीकी इन्द्रिय अनुभव आधारित अनुसंधान द्वारा व्यक्तिगत विधि प्रक्रियाओं और चिन्ताओं द्वारा पूरी तौर पर बदल दी गयी है। वास्तव में माध्यम प्रभाव दृष्टिकोण जन संचार के अकादेमिक अध्ययन की प्रमुख विधि थी। (2) इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध के दौरान उभरते हुए जन-संचार माध्यम आम लोगों के दृष्टिकोण को क्या स्वरूप देते हैं और क्या उसे परिवर्तित करते हैं और यदि ऐसा है तो यह किस सीमा तक होता है।

लोक समाज के सम्बन्ध में सिद्धान्तों ने सैद्धान्तिक चौखटा उपलब्ध कराया जिसमें कि इस प्रारम्भिक चिन्ता को रखा गया जन संचार माध्यमों की उनके दर्शकों को प्रभावित करने की शक्ति को समाज शास्त्रीय सिद्धान्तों द्वारा स्पष्ट किया जा सका जिसने लोक औद्योगिक समाज की छवि प्रस्तुत की जिसमें अपने रिश्तेदारों, पड़ोसियों, सहकर्मियों और मित्रों के साथ बुनियादी स्तर के संबंधों की व्यक्तिपरक संरचना बुरी तरह काट-छांट दी गयी, स्थापित मूल व्यवस्था का स्थायित्व समाप्त कर दिया गया और समुदाय तथा किसी का एक हिस्सा होने की भावना पूरी तौर पर खो दी गयी। लोक समाज में असम्बद्धता और विसम्बद्धता को एक आदर्श प्रजनन भूमि के रूप में देखा गया जिसमें ऐसी जोड़-तोड़ किये जा सकने वाले व्यक्तियों के लिए ऐसे प्रतीकों की खोज की जा सकती थी कि जिनके साथ वे अपनी पहचान बना सकती और अपने ऐसे नायकों की पहचान कर सकती कि जिनमें वे भरोसा कर सकती हैं। अतः जन संचार माध्यमों को ऐसे आदर्श रूप में देखा गया जो इस तरह की पहचान वाले व्यक्ति उपलब्ध करा सकते जन संचार माध्यमों ने आम लोगों और भद्र लोगों, शासकों और शासितों के बीच, शक्ति सम्पन्न और शक्तिहीनों के बीच एक सीधी कड़ी उपलब्ध करायी। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि

समाज की इस छवि के भीतर जन संचार माध्यमों को सर्व शक्ति सम्पन्न और लोगों को अपने अनुरूप कर लेने की क्षमता वाले साधन के रूप में देखा गया।

इस दृष्टिकोण का बुनियादी दृष्टांत 1948 में हेरोल्ड लासवेल द्वारा संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया जो एक शास्त्रीय सूत्र के रूप में था जिसमें बतलाया गया कि जन संचार का अध्ययन "जो कौन, क्या, किससे और किस प्रभाव की बात कहता है" से सम्बद्ध है। (3) यह सूत्र संचार प्रक्रिया में मुख्य तत्वों की पहचान करने वाला वतलाया गया: संचार करने का स्रोत (कौन); संचार की विष्य-वस्तु (क्या); संचार का लक्ष्य अथवा दर्शक (किससे) और परवर्ती प्रभाव। यह सूत्र अत्यन्त प्रभावकारी था और अन्य बातों के अलावा इसने जन संचार अनुसंधान को विच्छिन्न, विशेषज्ञ विभागों में — संचार करने वाले अथवा नियंत्रक विश्लेषण, विषय-वस्तु विश्लेषण, दर्शक-अध्ययन और प्रभाव-अध्ययन — में विभाजित करने में योगदान दिया यद्यपि अध्ययन के अन्य क्षेत्रों पर भी समान ज़ोर दिया गया फिर भी *प्रभावों पर* स्पष्ट रूप से अत्यधिक महत्व दिया गया। यद्यपि लोक संचार प्रभाव दृष्टिकोण, मतदान, व्यवहार पर जन संचार माध्यमों के प्रभाव के सन्दर्भ में — जैसे कुछ क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से सहायक रहा — तथापि यह भी पूरी तौर पर साफ़ है कि ऐसे कुछ जीवन्त और महत्वपूर्ण सवाल रहे हैं जिन्हें इस दृष्टिकोण की सीमा में परीक्षित नहीं किया जा सकता। इस विधि के अन्तर्गत समाज को उसकी विषय-परकता, सम्बन्धों, संस्थाओं और शक्तियों के समावेश के रूप में, जिसके सन्दर्भ में मनुष्य कर्म करता है, अनदेखा कर दिया गया, यह इसने उसे पूरी तौर पर एक संयोग मात्र मान लिया। हम जिस संसार की चर्चा करते हैं उसे जिन संदर्भों में देखते हैं उस पर जन संचार के प्रभाव की चर्चा करते हुए, जहाँ तक वह चेतना की रचना करने से सम्बद्ध है एक ऐसी चीज़ जिसका आपसे, उससे, हम सबसे सम्बन्ध है वह अचेतन होती प्रतीत होती है। उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता जब वह उस चौखटे की बात करता है जिसमें हमारी चेतना उत्पन्न होती है। इसका कहने का यह अर्थ नहीं कि आदर्श की संक्रियाएँ आवश्यक रूप से दिखाई नहीं देती; परन्तु इसका यह अर्थ है कि उनके प्रभावकारी होने की एक शर्त है उनका आदर्श होना। अतः इसका यह अर्थ निकलता है कि यह धारणा वास्तविकता के सम्बन्ध में कुछ आदर्शपरक परिभाषाओं को प्रभावित करने में सक्षम है — एक सैद्धान्तिक प्रस्थापना है जो कि अपनी वैधता के लिए उन लोगों के विषयागत प्रतिवेदनों पर आधारित नहीं हो सकती जिनकी चेतना आंशिक रूप से इस प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न हुई बतायी ऐसी प्रस्थापना है यदि इसे इनके संबंधों में संचारित किया गया तो वह अपनी सारी सैद्धान्तिक क्षमता खो देंगे। पोलोक, शा जैसे विचारकों के साथ-साथ अडोर्नो ने कहा है अनुभाविक विधियाँ,—जिनका आकर्षण उनके इस दावे में निहित है कि वे विषय-परक हैं—विषयगत के लिए अपना विरोधाभासी *पसन्द* प्रगट करती है"; कहने का अर्थ यह कि मत अथवा व्यवहार जैसी चीज़ों को सदैव व्यक्तिगत विषयों की व्यवहारगत प्रवृत्ति के रूप में सदैव देखा गया....।" (4)

अतः यह आरोप लगाया जाता है कि जन संचार प्रभाव दृष्टिकोण में प्रयोग में लाये

गये प्रवृत्ति सर्वेक्षण उप-आदर्शात्मक—जैसा कि संसार में हमें बना दिया है— को वस्तु— आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक संरचनाएँ जो कि जैसे बना दी है— के साथ गडमड कर देता है। इस प्रवृत्ति अनुसंधान की घोषित तौर पर विषयगत प्रक्रियाएँ न केवल यह कही जाती हैं कि वे सामाजिक संसार के संबंध में धारणाओं का एक विशेष समुच्चय प्रतिबिम्बित करती हैं वरन् वे आदर्शात्मक कार्य भी सम्पन्न करती हैं, यह आदर्शात्मक कार्य वे विषयगत सामाजिक प्रक्रमों से, जिसके भीतर चेतना और प्रवृत्तियों की उत्पत्ति स्थित है, ध्यान हटाकर करती है।

दूसरी ओर इस विषय पर रूढ़िवादी, मार्क्सवादी विचार द्वारा आर्थिक संकल्प के एक रूप पर ज़ोर दिया गया और उसमें इस बात को उसने जन संचार की आदर्शात्मक विषय-वस्तु को पूरी तौर पर स्वीकार कर लिया जिसमें संस्कृति को ऊपरी संरचना में स्थित किया गया और उसे आधार के प्रतिबिम्ब मात्र रूप में देखा गया अश्लील, मार्क्सवादी परम्परा कही जाने वाली धारणा का सबसे अच्छा उदाहरण क्रिस्टोफर कॉडवेल के लेखन में मिलता है। (5) संक्षेप में कहें तो इस दृष्टिकोण के अनुसार उत्पादक-प्रक्रिया सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और अर्थशास्त्र मूलभूत अवधारक हैं जो कानून की उपयुक्त संरचना, नौकरशाही और प्रशासकीय रूपों तथा उपयुक्त साहित्यिक रूपों को उत्पन्न करता है। अतः आधार और ऊपरी संरचना वाली संस्कृति और साहित्य के बीच एक का सम्बन्ध है या एक से एक का। अतः पूँजीवाद अपनी निर्मिति की स्थिति में, जब उसका समयातीत और पतनशील सामन्तवादी आर्थिक संरचना से युद्ध हुआ था, प्रगतिशील था। इस क्रान्तिकारी अवस्था में उसने शेक्सपीयर और मार्लो जैसे जगमगाते रचनाकार दिये। परन्तु पूँजीवाद का जैसे-जैसे विकास हुआ, उसके अन्तर्भूत विरोधाभास ज़्यादा प्रगट होने लगे और वह अधिकाधिक प्रतिक्रियावादी बना गया जिससे कि इस अवस्था में रचित प्रतियाँ पतनशील, औपचारिक तथा आम लोगों के लिए अप्रासंगिक रही जैसा कि कॉडवेल ने बताया है, अपरिहार्य पतन दादावाद, आदि यथार्थवाद और स्टीन के विचारों की ओर था जिसमें कि कला रूपहीन, निजी और यष्टिगत बन गये इस तरह कि समझ में कला को मात्र एक प्रतिबिम्ब के रूप में लिया गया - आर्थिक आधार के निष्क्रिय परावर्तक के रूप में देखा गया, अतः जैसा कि कॉडवेल कहता है, कला का गुण यह है कि यथार्थसत्ता का अनुकरणशील चित्र बनाती है। कला की रचना को एक स्थैतिक, विषयवादी सिद्धान्त के रूप में संगठित किया गया जिसके भीतर यथार्थता, यथार्थ संसार और आधार को वैज्ञानिक सत्य और कला में उसके प्रत्यावर्तनों या प्रतिबिम्बों के आधार पर अलग-अलग जाना जा सकता था। ये चीज़ें उस वक़्त उनकी समरूपता या समरूपता में कमी के आधार पर परीक्षित होती थी इस तरह के सुबोध सहज और यांत्रिक मॉडल असमतलता और अंतराल— मार्क्स द्वारा विकसित — कि अवधारणा, अथवा उच्चतर सिद्धान्तों से सापेक्ष दूरी की अवधारणा जो एंजल्स द्वारा विकसित को स्पष्ट नहीं कर सकता था वह इसलिए भी ग़लत था कि आधार और ऊपरी संरचना के बीच के संबंध कहीं ज़्यादा नाज़ुक विविधतापरक और समस्यामूलक हैं। इससे भी ज़्यादा बड़ी बात यह है कि प्रतिबिम्बवादी सिद्धान्त की

बुनियादी कल्पना यह है कि आधार एक निश्चित विषय है। और जैसा कि रेमण्ड विलियम्स ने बतलाया है कि यदि एक बार यह समझ लिया जाये कि आधार स्वयं ही एक प्रक्रिया है तो आधार स्वयं ही प्रक्रिया बन जाता है, जो पूरे मामले को कठिन बना देता है कि जिससे यह समझ नहीं आता समाज में यथार्थ सत्ता क्या है। (6) इसके अतिरिक्त, प्रतिबिम्बवादी सिद्धान्त में मध्यस्थता की सम्पूर्ण धारणा को अनदेखा कर दिया गया। इसके अनुसार सामाजिक वास्तविकताएँ सीधे तौर पर प्रतिबिम्बित नहीं होती है क्योंकि वे बदलती रहती हैं, क्योंकि वे मध्यस्थता की प्रक्रिया से गुज़रती रहती हैं।

प्रतिबिम्बात्मक सिद्धान्त का एक अधिक दुनियादार तथा अधिक मान्य स्वरूप ईगलडन ने विकसित किया है जो अश्लील मार्क्सवादी मॉडल के तर्कदोषों और कमियों को स्पष्ट रूप से रेखांकित करता है। ईगलडन के अनुसार प्रतिबिम्बवाद उन श्रेणियों का इन्द्रिय अनुभव है जो धरातलीय प्रतीति को रेखांकित करता है—ऐसी श्रेणियों को जो अल्थूसर के वैज्ञानिक सिद्धान्त अथवा लूकाच की महान् कला द्वारा अन्वेषित की गयी है। परन्तु इससे प्रतिबिम्बवाद का मूल स्वरूप ही बदल जाता है ईगलडन का तर्क है कि यदि मन तात्कालिक अनुभव से भीतर की श्रेणियों में प्रवेश कर सकता है तो चेतना स्पष्टतः ही एक गतिविधि है (इसकी तुलना कॉडवेल से करें जो चेतना को परावर्तनों, प्रतिध्वनियों, छाया और ऊर्ध्वपाती चीज़ों के रूप में ही देखता है) — एक ऐसा व्यवहार जो अनुभव को यथार्थ में रूपान्तरित करने के लिए कार्य करता है।(7) इस तरह कॉडवेल के मॉडल ने उपस्थित प्रतिबिम्बवाद के इस निष्क्रिय भाव को यथार्थ पर चेतना से कहीं अधिक सक्रिय हस्तक्षेप द्वारा बदल दिया गया है। ट्रॉटस्की तब यही बात प्रतिपादित कर रहे थे जब वह तर्क दे रहे थे कि कलात्मक सृजन *यथार्थ का अपवर्तन* है। (8) और मैकेरे ने यही बात इस तरह कही कि साहित्य का प्रभाव अनिवार्य रूप से *विरूपित* कर देना है इसके बजाय कि अनुकरण करना।(9) दूसरे शब्दों में कहें तो ईगलडन के लिए प्रतिबिम्बवाद उस तरह की पुनः निर्मिति नहीं है जिस तरह की दर्पण में किसी वस्तु की पुनः निर्मिति होती है, परन्तु वह तो एक नाट्य प्रदर्शन है जो नाट्य आलेख को पुनः निर्मिति करता है। यह तो यथार्थ के क्षेत्र में एक सक्रिय हस्तक्षेप है परन्तु ये सब जटिलताएँ अश्लील मार्क्सवादियों के अबोध रूप से सरल मॉडल के लिए पूरी तौर पर अजनबी थी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि मार्क्सवादियों ने इसीलिए पूँजीवादी समाज की संस्कृति को मूलविहीन, बुजुर्आ, अश्लील और पतनशील निरूपित करते हुए हमला किया। इससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण यह है कि उसने जन संचार और पूँजीवादी संस्कृति के क्षेत्र में वामपंथी हस्तक्षेप में संभावनाओं को स्वीकार किया।

वामपंथी परम्परा में फ्रेंकफुर्त स्कूल के अध्ययन के सिलसिले में भी इसी तरह की एक समस्या पायी जाती है। मारक्यूस और एडोर्नो ने जन संचार माध्यमों को पूँजीवादी वर्ग के साधन के रूप में देखा और माध्यमों के प्रतिफल को पूँजीवादी हितों और सिद्धान्तों के लिए एक कमोबेश रिले सिस्टम के रूप में देखा उन्होंने यह सुझाव दिया कि जन संचार माध्यमों के प्रतिफल—लोकप्रिय संस्कृति में एक शुद्ध रूप से

परम्परावादी स्वीकारात्मक चरित्र है। दोनों ने ही तर्क दिया कि यह संस्कृति एकाधिकारवादी पूँजीवादी में दैनिक जीवन की प्रतिगामी परिस्थितियों से समझौता करने में सहायक होती है। मारक्यूस का एक आयाम वाला व्यक्ति इस बात पर ज़ोर देता है कि संस्कृतिउद्योग आनन्द की इच्छा को झूठी आवश्यकताओं से विस्थापित कर देता है। ये आवश्यकताएँ उपभोक्ता समाज के अनुरूप हैं लोक संस्कृति उद्योग अनुभव के मानदण्डीकरण का न केवल विस्तार और पोषण करता है, वरन् वह सदैव एकरूपता के लिए सहमति प्राप्त करने में सहायक होता है। (10) इस तरह उनका तर्क है कि समकालीन समाज के विशिष्ट समाज शास्त्रीय गुणों के कारण, यह बिल्कुल ही संभव नहीं है तत्काल रूप से अस्तित्व में किसी प्रगतिशील गत्यात्मकता की पहचान की जाये। उनके लिए तो कलाकृतियों के लिए किसी मुक्तिदायक क्षमता की स्थापना की संभावना प्रबुद्ध चेतना की प्रगतिशील आवश्यकता की पुनः स्थापना पर अनिवार्य रूप से आश्रित है। यह एक ऐसी ज़रूरत है जिसके संबंध में इन दोनों विचारकों का कहना है कि वह आधुनिक एक आयामी समाज में खो गयी है। ऐसा लगेगा कि इस तरह के शास्त्रीयकरण के फलस्वरूप केवल राजनीति शास्त्र ही बचता है जिसे एडोरनो ने स्वीकृत किया था : राजनीतिक दीर्घ निद्रा। अश्लील मार्क्सवादी माडल के अनुसार इस दृष्टिकोण में भी जन संचार माध्यमों और लोक संस्कृति के क्षेत्र में प्रभावकारी वामपंथी हस्तक्षेप को पहले से ही पूरी तौर पर नकार दिया गया है।

इस तरह के सांस्कृतिक निराशावाद के संबंध में और जन-संचार क्षेत्र में वामपंथी हस्तक्षेप के लिए स्थान बनाने की पहल के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप सांस्कृतिक अध्ययन दृष्टिकोण विकसित किया गया बरमिंघम विश्वविद्यालय के सांस्कृतिक अध्ययन केन्द्र में स्टुअर्ट हाल के नेतृत्व में एक जन संचार समूह ने प्रभावशाली उदाहरणों और जन-संचार-माध्यम-प्रभाव-दृष्टिकोण तथा रूढ़िवादी मार्क्सवाद दोनों की ही चिन्ताओं को चुनौती दी। इस समूह के सांस्कृतिक अध्ययन के ज़्यादा विशाल आयाम ने जन संचार माध्यमों की भर्त्सना करने की बजाय इस समूह की जो बहुमूल्य बात थी उसको अलग छाँटने की कोशिश की और जो प्रामाणिक और आनन्दकर है उसका प्रचार किया। फ्रांस में जन संचार माध्यमों के संबंध में इसी प्रकार की सकारात्मक कोशिश कॉहियर दू सिनेमा की आट्योर (Auteur) शैली में, विशेषकर 1968 के बाद की प्रावस्था में, प्रगट हुआ। इधर बहुचर्चित संपादकीय (11) में कॉहियर ने बुजुर्आ आदर्श के संबंध में विवेधक-संबंधों के संदर्भ में विविध फ़िल्मों का वर्गीकरण विकसित किया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि फ़िल्म निर्माण अनिवार्य रूप से आदर्शात्मक व्यवहार के क्षेत्र में आता है जबकि उनके विरोधी सिनेथिक ने इसके विपरीत उसे *सैद्धान्तिक व्यवहार* के रूप में अंतरित करने की बात कही। परन्तु अल्थूसर ने जब अपने आपको प्रामाणिक कला के आदर्श से अलग किया तो उससे संकेत लेकर अपने प्रिय निर्देशक जैसे फोर्ड, सिर्फ, हिचकॉक आदि को बचाने के लिए उन्होंने कोशिश की। उन्होंने तर्क दिया कि जहाँ अधिकांश कामर्शियल फ़िल्म बुजुर्आ आदर्शवाद को स्पष्ट रूप से अपनाती है वहीं दूसरी फ़िल्में इस आदर्शवाद को रोकने या परावर्तित करने में या स्वयं आदर्शवाद को उलट देने की, जिससे कि

उसकी प्रक्रिया स्पष्ट हो सके, सफल होती है इस तरह का परावर्तन करने में जो फ़िल्में सफल हुई वे वही फ़िल्में थीं जिन्हें पहले *आट्योर* (Auteur) की कृति के रूप में सराहा गया था। कुल मिलाकर *(जन कला* के भीतर एक ऐसा भेद पैदा करने का प्रयास था जो पहले मार्क्सवादी परम्परा में *महान कला* और जनकला के बीच पैदा किया गया था।

स्टुअर्ट हाल के अधीन अपनाया गया सांस्कृतिक-अध्ययन-दृष्टिकोण-माध्यम, प्रभाव-दृष्टिकोण के मॉडल से अलग था और उसने एक ऐसी संरचना को अपनाया था जिसका अधिकांश आधार संचार माध्यमों की आदर्शात्मक भूमिका के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इस परवर्ती दृष्टिकोण ने जन संचार माध्यमों को एक प्रामाणिक सांस्कृतिक और आदर्शात्मक शक्ति के रूप में परिभाषित किया जो सामाजिक संबंधों और राजनीतिक समस्याओं तथा जिन दर्शकों से उनका वास्ता है उनके लोकप्रिय आदर्शों के निर्माण और रूपान्तरण के संदर्भ में वह एक प्रभावकारी स्थिति में है। (12) जैसा कि स्टुअर्ट हाल ने बताया था आधुनिक जन संचार माध्यमों ने सांस्कृतिक और आदर्शात्मक क्षेत्रों को धीरे-धीरे अपने अधिकार में ले लिया है। इस विशेषाधिकार स्थिति के कारण जन संचार माध्यम उस आधार को उपलब्ध कराने के लिए अधिकाधिक उत्तरदायी है जिसे समूहों और वर्ग-जीवन अर्थों व्यवहारों और दूसरे समूहों तथा वर्गों के मूल्यों के *बिम्ब* को निर्मित करते हैं। अतः हाल के अनुसार आधुनिक जन संचार का महान् सांस्कृतिक कार्य सामाजिक बिम्बवाद के सामाजिक ज्ञान का प्रावधान कर चयनित रूप से निर्माण करना है जिसके ज़रिये हम *संसार* देखते हैं दूसरों की यथार्थसत्ता को जीते हैं और दूसरों की तथा अपनी ज़िन्दगियों को कल्पनात्मक रूप से पुनः रचते हैं जिससे कि *समस्त का संसार* कुछ स्पष्ट रूप से रचना करते हैं और उसमें सम्पूर्णता से जीते हैं (13) सांस्कृतिक अध्ययन दृष्टिकोण का बुनियादी तर्क यह है कि जन संचार माध्यम प्रमुख आदर्शों के बीच में से संसार को वर्गीकृत करने के कठिन आदर्शवादी कार्य को परिश्रमपूर्वक सम्पन्न करता है। बहरहाल जैसा कि हाल ने रेखांकित किया था यह न तो एक सरल, न चेतन कार्य है: यह तो परस्पर विरोधी कार्य है— अंशों में, क्योंकि उसके प्रमुख क्षेत्र की रचना करने वाले आदर्शों के बीच आन्तरिक विरोधाभास है, परन्तु उससे भी ज़्यादा इस कारण की ये आदर्श-वर्ग-व्यवहार और वर्ग संघर्ष के क्षेत्र में प्रमुखता पाने के लिए संघर्ष और प्रतिद्वन्द्व करते हैं। अतः हाल का तर्क है कि ऐसा कोई रास्ता नहीं है जिसमें से इस कार्य को ले जाया जा सके एक काफ़ी सीमा तक बिना क्षेत्र की संरचना करने वाले विरोधाभासों की रचना किये बग़ैर। अतः आदर्शवादी पुनर्रचना का कार्य ऐसा है जो अपनी परिभाषा के अनुसार इस तरह कार्य करता है जिसमें एक-दूसरे के विरुद्ध कार्य करने वाली प्रवृत्तियाँ निरन्तर उभरती हैं। इससे जनसंचार के क्षेत्र में वामपंथी हस्तक्षेप के लिए दरवाज़ा खुल जाता है। माध्यम और आदर्श के सवाल को उठाकर सांस्कृतिक-अध्ययन-दृष्टिकोण ने उस भूमिका पर प्रकाश डाला जो प्रमुख आदर्शवादी परिभाषाओं और प्रतिनिधित्व को प्राप्त करने और प्रसारित करने में माध्यम निबाहते हैं। चिन्ताओं का यह समुच्चय

जन संचार माध्यम प्रभाव दृष्टिकोण तथा आदर्शवाद के समग्र क्षेत्र में उसकी ज़ाहिर अनुपस्थिति के ठीक विपरीत है।

यह अध्ययन सांस्कृतिक अध्ययन दृष्टिकोण का अनुगमन करता है और उसके समान ही ग्राम्सी के नेतृत्व सिद्धान्त (14) तथा अल्थूसर की आदर्श की अवधारणा (जिसमें से अन्तः प्रश्न की अवधारणा में से भद्रलोकी और कार्य-कारक पक्षों को निकाल दिये जाने पर) (15) पर बहुत अधिक आधारित है इसके अलावा वह अर्नेस्टो लेकलाओ के लोकप्रियतावाद के सिद्धान्त से भी बहुत कुछ ग्रहण करता है।

अल्थूसर की अंतःप्रश्न की धारणा और ग्राम्सी की नायकत्व की धारणा से सार ग्रहण करते हुए लेकलाओ ने अपने लोकप्रियतावाद सिद्धान्त को विकसित किया था। लेकलाओ के अनुसार लोकप्रियतावाद निर्धारित वर्गों अथवा आर्थिक विकास की निर्धारित अवस्थाओं से निर्मिति नहीं होती बल्कि लोकप्रिय अंतःप्रश्न की श्रृंखला से होती है जो कि आम लोगों और सत्ताधीशों के बीच विरोध उत्पन्न करता है। ''हमारी धारणा यह है कि लोकप्रियतावाद प्रमुख आदर्श के संबंध में संश्लिष्ट विरोधकारी संकुल के रूप में लोकप्रिय लोकतांत्रितक अंतःप्रश्न की प्रस्तुति में निहित है।'' (16)

ग्राम्सी का अनुगमन करते हुए उसने विश्वास व्यक्त किया कि केवल प्रमुखता पाने की अपनी क्षमता के द्वारा नहीं बल्कि अपने वर्ग के लोगों और जिन वर्गों पर वह प्रमुखता प्राप्त करना चाहती है उनके लोगों दोनों में ही अंतःप्रश्न की क्षमता के द्वारा कोई वर्ग नेतृत्व करता है। नायकत्व करने वाला वर्ग-संसार की दृष्टि और पराभूत वर्गों के विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों को आतमसात् कर, जो अपने रूपों में किसी आन्तरिक अथवा संभावित विरोध को शान्त कर देते हैं यह कार्य करता है। इस तरह लेकलाओ का तर्क है कि कोई वर्ग उस हद तक नायकवादी नहीं है जिस हद तक वह शेष समाज पर संसार की एक-रूपी धारणा को थोप देता है बल्कि उस सीमा तक है जिस तक वह संसार की विभिन्न दृष्टियों को इस तरह प्रस्तुत करता है जिससे कि उनका संभावित विरोध शान्त हो जाता है।(17)

इस प्रकार के निष्प्रभावीकरण की बुनियादी विधि समस्त विरोध को सामान्य मतवैभिन्यता में रूपान्तरित करने में निहित है। लेकलाओ के अनुसार, प्रमुख संलाप में निहित लोकप्रिय लोकतांत्रिक आदर्शों का प्रस्तुतीकरण हर चीज़ को समाहित करने की कोशिश है जो कि एक सामान्य अवभेदक विशेषता और उन तत्वों को दबा देना है जो कि विशेषता को विरोध के एक प्रतीक में रूपान्तरित करने की चेष्टा करते हैं।(18) दूसरे शब्दों में कहें तो वर्ग केवल उस सीमा तक नायकवादी शक्तियों के रूप में रहते हैं जहाँ तक वे अपने स्वयं के संलाप में उपयुक्त लोकप्रिय अन्तःप्रश्न को अलग कर सके परन्तु एक ऐसी मँजी हुई अभिव्यक्ति संवाद में जो एक विरोधी शक्ति के रूप में *व्यक्ति* को निष्प्रभावी बना देता है। दूसरे शब्दों में कहें तो कि आदर्शवादी संवाद को एक लोकप्रिय **संवाद** में रूपान्तरित करने वाला संवाद अपने आप में लोकप्रिय लोकतांत्रितक अन्तःप्रश्नों की मंजी हुई अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट रूप है। इस तरह लेकलाओ प्रमुख वर्गों के लोकवाद और अधीनस्थ वर्गों और लोकवाद के बीच अन्तर करता है। ये दोनों ही लोकप्रिय अन्तःप्रश्नों पर निर्भर

ग्राम्सी, अल्थूसर, लेकलाओ के सिद्धान्त कुछ बुनियादी मुद्दों के आसपास समाँगी होते हैं वे आदर्श संबंधी अपनी अवधारणा को सभी प्रकार के आर्थिक अथवा यांत्रिकीय अप-व्याख्यावाद से, *अर्ध-शास्त्रीयकरण* और *षडयंत्र सिद्धान्त* से अपने आप को दूर रखते हैं। झूठी चेतना संबंधी सिद्धान्त को अस्वीकार कर वे आदर्श के भौतिक आदर्श आधार पर ज़ोर देते हैं वे उसके व्यवहार में रूपान्तरित होने और उपक्रमों में साकार होने पर बल देते हैं *प्रमुख आदर्श/शास्री विचारों* के सिद्धान्त पर प्रहार करते हुए वे तर्क देते हैं कि आदर्श वर्ग संघर्ष का, अंतर्द्वन्द्व का स्थल है उनके मतानुसार वर्ग-संघर्ष आदर्श के क्षेत्र में इस तरह प्रवेश करता है कि हम पाते हैं कि प्रमुख वर्गों के आदर्शों के साथ-साथ, जो इस प्रथा के पुनरूत्पादन की ओर प्रवृत्त होता है, और साथ ही साथ अधीनस्थ वर्गों के आदर्श भी हैं जो अपने क्रान्तिकारी रूपान्तरण करने की ओर प्रवृत्त होते हैं। वे एक सवाल खड़ा करते हैं जो उस भूमिका से संबंधित होता है जो प्रतिनिधित्व की व्यवस्था के उत्पादन और पारेषण वर्ग प्रमुखत्ता के विद्यमान संबंधों को पुनरूत्पादित करने या उससे विपरीत कार्य करने में एक ऐसी भूमिका निबाहते जो वे इन संबंधों को बदलने में निभा सकते हैं। वे जन संचार माध्यमों और आदर्श को राजनीति के क्षेत्र में सीधे-सीधे सामने ले आते हैं। यदि आदर्श के स्तर पर चेतना उत्पन्न होती है और सामाजिक अभिकर्ताओं के मामले में निश्चित सामाजिक व्यवहार का रूप लेती है तो इसका यह अर्थ है कि चेतना का संघर्ष ऐसा अमूर्त नहीं है जो प्रतिद्वन्द्वी विचारों के संबंध में चिन्ता के वरन् वह एक ठोस सवाल है जो सामाजिक नियंत्रण और उन यंत्रों के उपयोग से संबंधित है जिससे चेतना उत्पन्न होती है। इस तरह वे प्रभुत्व की पूरी धारणा का विस्तार करते हैं और उसे संकीर्ण वर्गहितों की सीधी अभिव्यक्ति से दूर रखते हैं। सबसे बढ़कर बात यह है कि वे हमारे लिए यह संभव बना देते हैं कि हम उस केन्द्रीय भूमिका को समझ सके जो अधिसंरचनाएँ (चर्च, परिवार, शाला, जन संचार माध्यम वगैरह) प्रभुत्व में संरचित समाजों को सुरक्षित करने और जोड़कर रखने में निबाहते हैं और उत्पन्न व्यवस्था की संख्याओं के अनुरूप उनकी समग्र प्रवृत्तियों में सामाजिक, नैतिक, मानसिक और तार्किक जीवन के अनुरूप बनाने में निबाहते हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि वे हमारे लिए यह संभव बनाते

रहते हैं परन्तु जहाँ प्रमुख जातियों का लोकवाद उसे इस तरह अभिव्यक्त करता है जो उसे किसी क्रान्तिकारी-दिशा में उन्मुख होने से रोकेगा वहीं अधीनस्थ वर्गों का लोकवाद इसके ठीक उल्टा कार्य करता है प्रमुख वर्गों का लोकवाद हमेशा ही अत्यन्त दमनकारी रहा है क्योंकि वह किसी विद्यमान संसदीय शासन की तुलना में कहीं अधिक खतरनाक अनुभव बनने की कोशिश करता है। जहाँ संसदीय शासन, लोकप्रिय शासन, लोकप्रिय अन्तःप्रश्न की क्रान्तिकारी संभावना को सिर्फ निष्प्रभावी बनाता है वहीं प्रमुख वर्गों का लोकवाद उस विरोध को विकसित करने की कोशिश करता है किन्तु उसे एक सीमा के भीतर रखता है।

हैं कि हम यह देख सकें कि सांस्कृतिक प्रश्न अन्य स्तरों से किस तरह ग़ैर अपव्याख्यावादी तरीक़े से जुड़ सकते हैं।

अब हम इस स्थिति में हैं कि हम हिन्दी पारम्परिक फ़िल्मों को इस सैद्धान्तिक संरचना के भीतर स्थापित कर उन्हें समझ सकें और उनका विश्लेषण कर सकें। बिलकुल शुरू में पारम्परिक सिनेमा ने लोकप्रिय तत्वों, उसकी भावनाओं को, अवधारणाओं को और सामान्य चेतना को प्रतिविम्बित करने का काम किया उसने संस्कृति के तत्वों को रूपान्तरित करने के द्वारा सक्रियता बतलाई—न कि चकित और निष्क्रिय दर्शकों पर मनचाही सामग्री थोपकर या अन्वेषित कर। यह मॉडल हमें यह समझने में सहायता देता है कि जहाँ पारम्परिक सिनेमा निश्चय ही शासक वर्ग विचारों को वैधानिकता दिलाने में भूमिका निबाहता है, वह यह कार्य इन विचारों की ओर दर्शकों को लुभाकर यह कार्य नहीं करता— बल्कि अपनी स्वयं की अवचेतन प्रक्रियाओं को अनजाने में शामिल करके या उसके बग़ैर करता है। इसके विपरीत पारम्परिक सिनेमा सार्थक-तत्वों को हथियाकर यह कार्य करता है ये तत्व संस्कृति में पहले से ही उपस्थित रहते हैं पारम्परिक सिनेमा उनका कच्चे माल के रूप में उपयोग करता है और उन्हें इस तरह रूपान्तरित करता है कि वे शासक वर्ग के नायकवादी सिद्धान्त को अभिव्यक्त करते हैं यह इसलिए नहीं है कि इन फ़िल्मों के निर्माता शासक वर्ग के सिद्धान्तों के सचेत वाहक हों, परन्तु चूँकि यथार्थसत्ता के संबंध में उनकी अवधारणा और इसलिए उसकी परिभाषा नायकवादी उपदेश की भाँति है। दूसरे शब्दों में कहें तो पारम्परिक सिनेमा शासक वर्ग के नायकत्व को स्थापित करने में मदद करता है। अपनी प्रभुतावादी या छलावे की क्षमता के ज़रिये नहीं बल्कि संसार की दृष्टि और अधिशासित वर्गों के विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों को हड़पकर और उन्हें रूपान्तरित कर तथा ऐसे रूपों में अभिव्यक्त कर जो विद्यमान व्यवस्था के प्रति अन्तर्निहित अथवा संभावित विरोध को सावधानी-पूर्वक निष्प्रभावी बनाते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि इस तरह का सिनेमा लोकप्रिय है और क्योंकि वह अधिशासित वर्गों को निरन्तर अन्तःप्रश्नित करता है, अपनी विषय-वस्तु और प्रयोग में लाये गये सिनेमा तकनीकों के ज़रिये। यह अंतःप्रश्न कौटुम्बिक, धार्मिक अथवा राजनीतिकों वह सदैव ही ख़ास तौर पर अधिशासित वर्गों की भावनाओं, विचारों और सांसारिक दृष्टि को अभिव्यक्त और प्रतिबिम्बित करता है।

अब हम इस अध्ययन के केन्द्रीय विचार पर पहुँच गये हैं— क्रान्ति के मिथ, जैसा कि वह पिछले दो दशकों की सर्वाधिक सफल फ़िल्मों में प्रक्षेपित किया गया है।

15 अगस्त, 1975 को **शोले** नाम की एक फ़िल्म रिलीज की गयी। शुरू के दो डगमग सप्ताहों के बाद वह एक नये फ़िल्म इतिहास को रचने के लिए दृढ़ता के साथ आगे बढ़ गयी अपने प्रारंभिक प्रदर्शन, (आम तौर पर रिलीज़ किये जाने के पहले 18 महीनों के लिए की गयी गणना के अनुसार) अपने प्रारंभिक प्रदर्शन के दौरान जिस किसी भी क्षेत्र में यह फ़िल्म रिलीज़ की गयी वहाँ उसने एक करोड़

से ज़्यादा राशि अर्जित करने वाली पहली बिलकुल पहली फ़िल्म होने का इतिहास हिन्दी सिनेमा में बनाया। वर्ष 1973-1987 की अवधि के दौरान **शोले** के बाद से 12 अन्य फ़िल्में ज़ारी हुई हैं जिन्हें बड़ा *सी* चिन्ह प्राप्त करने में सफलता मिली है बड़े *सी* का मतलब ऐसी फ़िल्में हैं जो कम से कम एक क्षेत्र में एक करोड़ से ज़्यादा अर्जित करती हैं। इन 13 फ़िल्मों में से 10 फ़िल्मों का मुख्य विषय विद्रोह लाना है इन फ़िल्मों में **जंजीर, दीवार, मेरी आवाज़ सुनो, आज़ की आवाज़, त्रिशूल** आदि फ़िल्में शामिल नहीं है जिन्होंने बड़ा *सी* प्राप्त नहीं किया फिर भी वे सुपरहिट फ़िल्में थीं और जिनका मुख्य विषय भी विद्रोह था और यही वजह है कि हिन्दी फ़िल्म जगत् से दूर से भी परिचित व्यक्ति दोघिसी पिटी उक्तियों को आसानी से याद कर सकता है— नाराज़ युवा और व्यवस्था विरोधी फ़िल्म। ये फ़िल्में लोकप्रिय हुईं और बहुत बड़ी संख्या में लोगों ने इन्हें देखा किन्तु इससे इनकी सफलता के कारण का पता नहीं चलता। मुख्य बात यह है कि इस फ़िल्म में जो सन्देश था उसे लाखों लोगों ने स्वीकार किया और तत्पर होकर अपना लिया जिससे कि उनके दिल-दिमाग़ पर इन फिल्मों का अनोखा प्रभाव पड़ा इन फ़िल्मों की सफलता इस तथ्य से भी आँकी जा सकती है कि फ़िल्म उद्योग ने इनके ज़रिये दो सुपर स्टार खड़े कर दिये। पहले दौर में राजेश खन्ना जो 4 या 5 वर्ष तक और 86 फ़िल्मों में फैले अपने कैरियर के दौरान शीर्ष पर बने रहे लेकिन इस दौरान केवल 3 सुपरहिट फ़िल्में निर्मित हो सकीं और किसी को भी बड़ा *सी* वर्ग प्राप्त नहीं हुआ। दूसरी ओर विद्रोह के रूप को सर्वाधिक नियमित और सफल तरीक़े से सम्प्रेषित करने वाले व्यक्ति **अमिताभ बच्चन** 15 वर्षों से भी अधिक समय से शीर्ष पर हैं और उसकी नौ फ़िल्मों ने बड़ा *सी* वर्ग प्राप्त किया अतः यह स्पष्ट है कि हिन्दी पारम्परिक फ़िल्मों के किसी भी अध्ययन को इस मिथ की अनोखी सफलता को ध्यान में रखना होगा परन्तु इसके पहले कि हम यह करें उस सन्दर्भ का पता लगा लेना आवश्यक है जिसमें कि यह मिथ इतना बड़ा निर्माता बन सका।

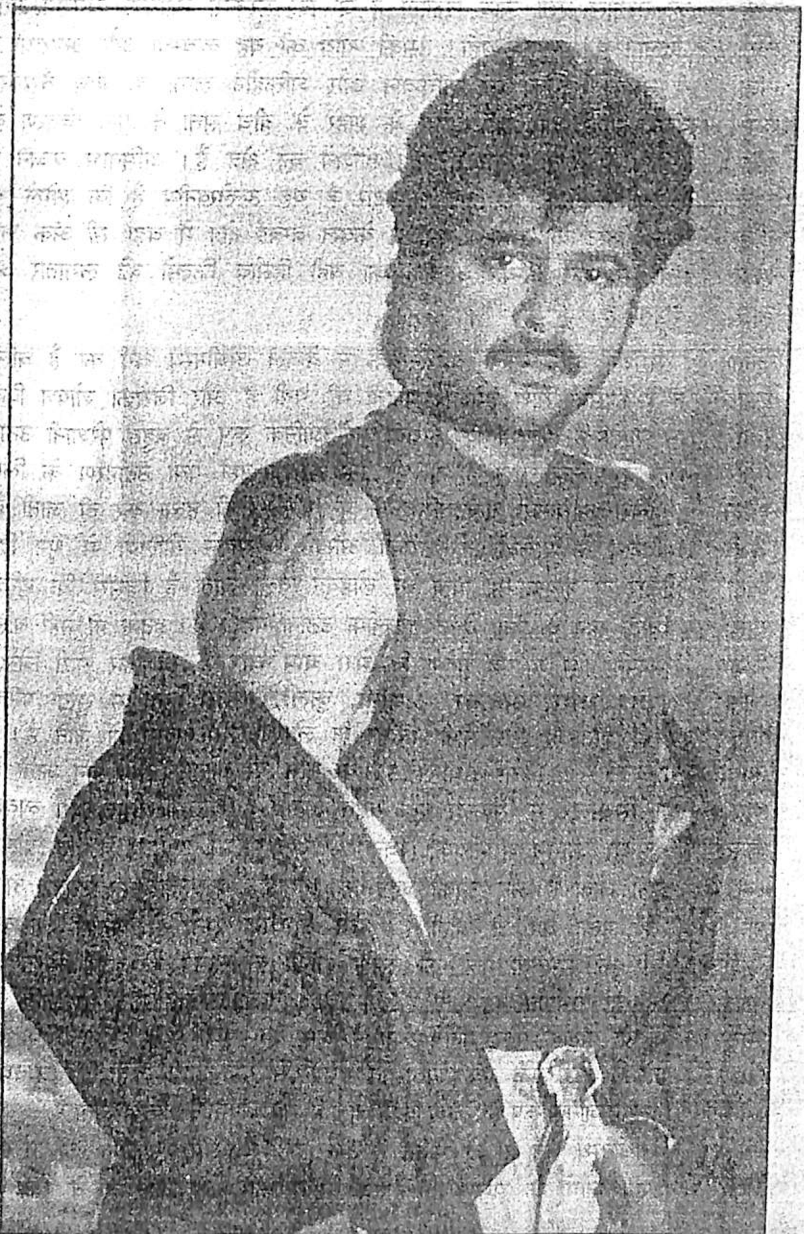
आठवें दशक के आते-आते तक स्वातंत्र्योत्तर युग का उन्मेष हवा हो चुका था आज़ादी आने के समय भारत ने विकास के जिस पूँजीवादी रास्ते को अपनाया था उसके परस्पर विरोध तीखे होकर स्पष्ट रूप से सामने आ गये। कॉंग्रेस इन विरोधों को रोक सकने और उसका व्यवस्थापन करने में असमर्थ रही और इस वजह से जो राजनीतिक स्थिति सामने आयी उससे कॉंग्रेस टूट गयी। जनता की निगाहों में कॉंग्रेस की विश्वसनीयतमा निम्नतम स्तर पर पहुँच गयी जिससे कि 1967 में अधिकांश राज्यों में ग़ैर-कॉंग्रेस सरकारें बन गयीं विधायिका, नगरपालिका और प्रशासन जैसे राज्य अंगों की वैधता संकट में पड़ गयी थी। हाशिये में रहने वाले लोग सरकारी—न्यायिक तंत्र से काफ़ी पहले ही अलग हो चुके थे अपनी स्थिति के कारण शासक वर्ग (सामान्य रूप से पूँजीवादी पतन के आधुनिक-युग और एक पिछड़े समाज में रहते हुए) में समाज के बुनियादी समस्याओं को सफलतापूर्वक हल करने की न तो क्षमता थी और न बन पायी। अपनी निष्फल नीतियों के द्वारा उसने सामाजिक-संकट को और गहरा ही किया, जिसमें वर्ग तथा अन्य सामाजिक द्वन्द

ज़्यादा तीखे हो गये। इन नीतियों ने वर्ग ध्रुवीकरण की गति को तेज़ ही किया जिसे जनता के बड़े हिस्से, ख़ास करके निम्न मध्यम वर्गों की आर्थिक और सामाजिक कठिनाई ज़्यादा गहरी हो गयी। कीमतें इस तरह तेज़ी से बढ़ीं कि वेतन बढ़ोत्तरी होने का कोई अर्थ ही नहीं होता, बेरोज़गारी लगातार बढ़ती रही। जीवन-स्तर साल दर साल गिरता ही गया प्रमुख महानगरों में नगरीय प्रक्रियाएँ इस तरह रहीं कि शहर के भीतर ही दो शहर बन गये। उदाहरण के लिए बम्बई की कोई एक तिहाई आबादी झुग्गी-झोपड़ियों या फुटपाथों पर न्यूनतम नगरीय सुविधओं में जीवन जीती हैं ये लोग मुख्य धारा से गंभीर रूप से हाशिये की स्थिति में रहते हैं— ये लोग अपने मूल सामाजिक वातावरण से विस्थापित हुए लोग हैं जो शहर में घुलमिल नहीं सके ये लोग अधिकतम आर्थिक विभिन्नता में रहते हैं और यह पशुवत अस्तित्व भी सुरक्षित झोपड़ियों को नगरीय ज़मीन का अवैध कब्ज़ा माना जाता है और उन्हें हर माह दण्ड देना पड़ता है जहाँ वे निकाल दिये जाने अथवा अपने इस शहरी झोंपड़े के तोड़ दिये जाने से निरन्तर भय में जीते हैं वहीं वे सरकारी नगरीय तंत्र से किसी प्रकार के लाभ की आशा नहीं कर सकते। इसी सन्दर्भ में अमिताभ बच्चन की नाराज़ युवा छवि को समझा जाना चाहिए।

अमिताभ बच्चन हमेशा ही ऐसे लोगों में से एक है। दीवार डाकयार्ड में एक कुली है जो बाद में अपराधों का मुखिया बन जाता है **शोले** में वह एक मामूली लफँगा है। **कुली** में वह एक कुली है, **अदालत** में वह एक मामूली गाँव वाला है जिसे



अपना गाँव छोड़कर भाग जाने पर मजबूर कर दिया जाता है, **कालिया** में वह एक टैक्सी ड्रायवर है, **मर्द** में वह एक ताँगे वाला है, **नसीब** में एक वेटर है, **अमर, अकबर, एंथोनी** में वह एक अवैध शराब का धन्धा करने वाला है, **नमकहलाल** में वह एक मामूली सा नौकर है, **आख़िरी रास्ता** में वह एक मामूली पार्टी कार्यकर्ता है, **डॉन** में वह एक सीधा-सादा ग्रामीण है।



इन सभी फ़िल्मों में यद्यपि वह अधीनस्थ वर्ग का है फिर भी वह अपने शोषकों के स्तर तक उठने में सफल होता है वह एक ऐसी छवि बनाता है कि वह उन्हें ऐसा न्याय दिला सकता है जो पुलिस नहीं दिला सकती वह उन्हें सरकारी दमन जैसे झोपड़-पट्टी उन्मूलन (ऐसे अनेक दृश्यों को ध्यान में लाएँ जिसमें बस्ती के उन्मूलन को नायक द्वारा ऐन वक़्त पर रोक दिया जाता है) के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करता है जो तत्काल ऐसा न्याय दिलाता है जो कि सरकारी न्यायिक व्यवस्था ग़रीब लोगों को दिलाने में असफल रहीं। उसकी न्याय की यह व्यवस्था और अपराधों के मुखिया की उसकी भूमिका को शक्तिवान और शक्तिहीन लोगों के बीच वैधानिक रूप से स्वीकृत शहर और हाशिये पर के शहर के बीच सत्ता के पुनः वितरण की प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है यही हाशिये का क्षेत्र है। अमिताभ बच्चन के स्वरूप को स्थापित करने के लिए ज़िम्मेदार है यह उल्लेखनीय है कि **शोले** को छोड़कर हमारी लिस्ट की सभी फ़िल्मों ने केवल बम्बई क्षेत्र में बड़ा *सी* अंक प्राप्त किया। बम्बई में और अन्यत्र आबादी का यही हिसाब फ़िल्मों को लगातार और बार-बार देखता है।

जनता का समर्थन करने वाला यह नायक न केवल अधीनस्थ वर्ग का है बल्कि ऐसा व्यक्ति है जिसके साथ हमेशा ज़्यादती की गयी है और जिसका शोषण किया गया है उसे शारीरिक, भावनात्मक अथवा मनोवैज्ञानिक रूप से बहुत परेशानी उठानी पड़ी है यदि वे पुलिस वाले हैं तो भी उन्हें बख़्शा नहीं गया उदाहरण के लिए, **शोले** में, पुलिस अधिकारी बलदेवसिंह के पूरे परिवार की हत्या कर दी जाती है। **जंजीर** में विजय के पालकों को उसकी आँखों के सामने गोलियों से भून दिया जाता है **दीवार** में नायक का पिता घर छोड़कर चला जाता है जिससे कि परिवार वालों को ज़िन्दा रहने के लिए बेहद तकलीफ़ उठानी पड़ती है। इतना ही नहीं बल्कि विजय को अपने हाथ में यह गुदना कि **मेरा बाप चोर है** गुदवाकर सारी जिन्दगी जीना पड़ता है। **अमर, अकबर, अंथोनी, कुली, नसीब, मर्द** में सुखी परिवार तितर-बितर हो जाता है और सभी परिवार के लोग अलग-अलग हो जाते हैं। माँ या तो गूँगी-बहरी (22) या अंधी (23) या माँस का लोंदा (24) बन जाती है। **मुकद्दर का सिकन्दर** में सिकन्दर एक गरीब अनाथ है जिससे समाज बुरा व्यवहार करता है। **अन्धा कानून** में नायक (जिनमें से एक पुलिस अफ़सर है) के पालकों को मार डाला जाता है और उनकी बहन का सामूहिक बलात्कार कर उनकी आँखों के सामने ही हत्या कर दी जाती है। **मेरी आवाज़ सुनो** में पुलिस अधिकारी सुशील कुमार की गर्भवती पत्नी को उसके आँखों के सामने ही इतनी पिटाई की जाती है कि वह गर्भपात कर देती है और बेहद तकलीफ़ देह मौत मर जाती है। **मर्द** में राजू के पालक पकड़ लिये जाते हैं और एक बन्दी केन्द्र में बन्दी के रूप में रखे जाते हैं और उन्हें एक व्यवस्थित तरीक़े से यातना दी जाती है। **प्रतिघात** में महिला को सार्वजनिक रूप से निर्वस्त्र किया जाता है और अपमानित किया जाता है।

ये नायक अधीनस्थ वर्ग के हो सकते हैं और उन्हीं के समान शोषित, पीड़ित भी। फिर भी वेउन लोगों के समान ही शोषण को स्वीकार नहीं करते हैं वे ज्वार की

दिशा को बदल देने में और अपने शोषक से अपमान का बदला लेने में सक्षम होते हैं इस तरह सारी पारम्परिक फ़िल्में एक व्यक्ति की आक्रामक क्रियाशील छवि को उभारती है। चाहे वह अन्दर ही अन्दर सुलग रहा एकाकी व्यक्ति हो (**ज़ंजीर, दीवार, शोले, त्रिशूल**), या नाचता, गाता वह मस्त मौला नायक हो (**अमर, अकबर, अंथोनी, लावारिस, नसीब, शराबी, नमक हलाल, डॉन, मर्द**) या इन दोनों का मिला जुला रूप हो (**मुकद्दर का सिकन्दर, अन्धा कानून, शहँशाह**) अथवा अपना जाना पहचाना आदमी / औरत हो (**एक दूजे के लिए, प्रतिघात**) नायक सदैव ही कुछ कर दिखाने वाला और सफलता प्राप्त करने वाला होता है। वह कभी भी बढ़कर सोच-विचार करने वाला नहीं होता परन्तु सदैव ही कुछ करने वाला होता है। वह सदा खुद की या दूसरों की लड़ाईयाँ लड़ता रहता है परन्तु उसकी यह लड़ाई कभी व्यर्थ नहीं जाती। सदैव ही वह पदनाम देने वाली होती है उसे कभी भी हिचकिचाहट नहीं होती वह कभी भी शंका में नहीं पड़ता और न कभी वह करूँ ना करूँ के संशय में पड़ता है, वह जानता है कि वह क्या चाहता है और उसे किस तरह प्राप्त किया जा सकता है। हर फ़िल्म में नायक एक न एक समस्या को खुद-ब-खुद या परिस्थितिवश अपना लेता है और फिर उसे अपनी ज़िन्दगी को भी दाँव पर लगाकर सफलतापूर्वक हल करता है। अतः यह बहुत महत्वपूर्ण नहीं है कि अधीनस्थ वर्ग का समर्थक फ़िल्म के अंत में मारा जाता है या ज़िन्दा रहता है। ज़्यादा महत्वपूर्ण बात यह है और जो दर्शक के साथ उसकी पहचान को सुनिश्चित करता है वह यह कि नायक सारी समस्याओं को हल कर देगा और हर चीज़ ठीक हो जायेगी। और इस मामले में कोई भी पारम्परिक फ़िल्म अपने दर्शक को निराश नहीं करती। इस तरह **ज़ंजीर** में नायक तस्करों और नशीली दवाओं का धन्धा करने वालों का सामना कर उन्हें समाप्त कर देता है। **शोले** में ये नायक भयावह डाकू गब्बर को अपंग बनाकर उसके गैंग को समाप्त कर देते हैं। **मुकद्दर का सिकन्दर** में सिकन्दर जोहरा बाई के प्रेम को ठुकरा देता है, दिलावर को मार डालता है और अपनी *मेम साब* को खुश करने के लिए खुद के जीवन की भी बलि दे देता है। **अमर अकबर अंथोनी** में नायक न केवल छिन्न-भिन्न हुए मूल परिवार को जोड़ देता है बल्कि वह इस प्रक्रिया में तस्करों और गुण्डों का भी सफाया कर देता है। **अन्धा कानून** में वे जहाँ न्यायिक प्रक्रिया की कमज़ोरी को उजागर करते हैं वहीं हत्यारों, बलात्कारियों और काले धन्धे करने वालों का सफाया कर देते हैं। **मेरी आवाज़ सुनो** में नायक पूरे अपराधी संगठन को समाप्त कर देता है जिसमें कुछ मंत्री और पुलिस अधिकारी भी शामिल रहते हैं। **एक दूजे के लिए** में युवा प्रेमी अतार्किक, पूर्वग्रही, भाषायी और क्षेत्रीय उन्माद के विरुद्ध संघर्ष करते हुए अपने प्राण दे देते हैं, **कुली** में ईश्वर की कृपा से नायक भ्रष्ट राजनीतिज्ञों, गुण्डों और काले धन्धे करने वालों के विरुद्ध सफल लड़ाई लड़ता है। **मर्द** में वह अंग्रेज़ी साम्राज्य और उसके एजेन्टों से संघर्ष करते हुए उन्हें समाप्त कर देता है। **राम तेरी गंगा मैली** में भ्रष्ट राजनीतिज्ञों और मुनाफ़ाखोरों को धूल चाटनी पड़ती हैं। **नमक हलाल** और **लावारिस** में मैनेज़र और दूसरे धोखाधड़ी

करने वाले लोगों के चेहरे पर से नकाब उतारकर उन्हें पराजित कर दिया जाता है। **प्रतिघात** में नायिका शक्तिशाली राजनीतिज्ञों - पुलिस - गुण्डा सन्धि के विरूद्ध मोर्चा लेती है और उन्हें नेस्तनाबूद कर देती है।

एक अन्य उल्लेखनीय मुद्दा यह है कि फ़िल्म का अन्त आने के पहले सारे विरोधाभास दूर कर लिए जाते हैं, खलनायक की मलामत की जाती है उन्हें नीचा दिखाया जाता है मार-मार कर उनकी हुलिया ठीक कर दी जाती है और आम तौर पर उन्हें उनकी जगह बता दी जाती है: वास्तव में ये वे अनुक्रम हैं जो किसी फ़िल्म के शीर्ष बिन्दुओं की रचना करते हैं और फ़िल्म के बार-बार देखे जाने की महत्ता को बढ़ाते हैं: **जंज़ीर** में उस घटना में जहाँ खलनायक तेजा फैशनेबल रेस्तराँ में खाना खाते हुए दिखलाया जाता है और जेल से तुरंत छूटा हुआ विजय दृढ़ता के साथ उसके पास आता है और घोषणा करता है कि **मैं आ गया हूँ तेजा,** इसके पहले कि तेजा इस सदमे से सम्भले विजय उसके सामने बैठ जाता है और कहता है **बुज़दिलों की तरह मैं पीछे से हमला नहीं करता। इतनी आसानी से नहीं मारूंगा छः महीने तक हर पल तुम्हें मेरा ख़ौफ़ रहेगा।** तेजा जो इस समय तक संभल चुकता है बहादुरी दिखलाते हुए कहता है **तुम हमारे साथ आ जाओ, ये वादा रहा मैं तुम्हारी ज़िन्दगी बना दूँगा** और इतना कहकर वह चला जाता है इस घटना का एक बड़े हथौड़े की मार का प्रभाव पड़ता है जो दर्शकों को बेहद विमार्गी आनन्द देता है।

इसी तरह **मर्द** का स्वीमिंग पुल का दृश्य, **कुली** में घर तोड़ने का दृश्य, **लावारिस** में **आपका क्या होगा जनाबे आली** वाला दृश्य, **प्रतिघात** में **तुम्हारे बलमा बेईमान हमें पटियाने आये हैं** गाने पर दृश्यांकित किया गया उत्कृष्ट चुनाव दृश्य, **अंधा कानून** में अदालत का दृश्य, **अमर, अकबर, एंथोनी** में **होनी को अनहोनी कर दे** दृश्य, **दीवार** में विजय का डावर और सावन्त से वार्तालाप और **शोले** में होली के अवसर पर जय तथा वीरू के साथ संघर्ष में गब्बर के धूल चाटने का दृश्य दर्शकों को बेहद भावात्मक संतोष देता है और ये दृश्य निश्चित ही इन फ़िल्मों के शीर्ष बिन्दु हैं। इस तरह फ़िल्मों में खलनायक समाज के अधिक शक्तिशाली सुरक्षित और अधिकार प्राप्त लोगों के रूप में दर्शाये गये हैं और जब उनका अपमान किया जाता है उन्हें नीचा दिखाया जाता है और उनकी ऊँची सुरक्षित जगह से उस ज़मीन पर लाकर पटक दिया जाता है जहाँ समाज के अधीनस्थ लोग रहते हैं तो इससे न केवल दर्शक के साथ नायक की तद्‌रूपता स्थापित होती है बल्कि उससे शोषक के संबंध में शोषितों की आन्तरिक भावनाएँ और कल्पना-लोप को अभिव्यक्त करने में भी मदद मिलती है। इसके अलावा ये दृश्य न केवल नायक की असाधारणता पर ज़ोर देता है वरन् आक्रामक आन्दोलनकारी व्यक्ति की छवि को भी सुदृढ़ बनाता है।

(क) नायक को अधीनस्थ वर्गों ने स्थापित कर, (ख) उसकी उतना ही असुरक्षित और शोषित दिखलाकर, (ग) शोषकों के विरुद्ध खड़े होने और उनसे युद्ध करने की उसमें क्षमता और साहस दिखलाकर, (घ) और शोषितों को नीचा दिखलाकर,

अपमानित कर और अन्ततः पराजित कर उन्हें समाप्त दिखलाकर पारम्परिक फ़िल्में दर्शक के साथ तद्रूपता सुनिश्चित करती है और दर्शक के साथ सफलतापूर्वक अन्तःप्रश्न करती है। बहरहाल मँजी हुई अभिव्यक्ति के द्वारा फ़िल्म का वृत्तान्त विचलनकारी, विध्वंसक गतिविधि की संभावना को निष्प्रभावी कर देती है अपने में घुलामिला लेती है और निकाल बाहर करती है, तथा व्यक्ति के संबंध में एक बिलकुल अलग ही अवधारणा को प्रक्षेपित करती है।

यहाँ हम असाधारण व्यक्ति के मिथ के सवाल पर ग़ौर कर रहे हैं तो ज़ाहिराना तौर पर फ़िल्मी नायक एक असाधारण व्यक्ति के रूप में प्रदर्शित किया जाता है जो प्रामिथीयस की तेज़ी वाले स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में प्रदर्शित किया गया होता है। वह ताक़तवर, सुन्दर, साहसी, वाक्पटु — असाधारण क्षमता वाला व्यक्ति है वह न केवल अनेक खलनायकों का सामना एक साथ कर सकता है बल्कि पूरे समाज का सामना भी कर सकता है। नायक और अन्य के बीच सचेत रूप से अलगाव निर्मित किया जाता है। लोगों की भीड़ की समानता, उनकी असहायता और नपुंसकता, उनके अधिकारहीन अस्तित्व को ज़ोर देकर प्रदर्शित किया जाता है जिससे कि नायक असाधारणत्व ज़्यादा तेज़ी से उभरकर आ सके। और फिर भी यही नायक जीवन के हर मोड़ पर नियति द्वारा कोने में ढकेल दिया जाता है। वह प्रकृति का नियंता नहीं होता बल्कि प्रकृति की दया पर सदैव रहता है उसके लिये ज़रूरी होता है कि वह शक्ति प्राप्त करने के लिए ईश्वर की आराधना करे या विरोधी के साथ होने वाली लड़ाई में ईश्वर आवश्यक रूप से सहायता करने के लिए हस्तक्षेप करे **(दीवार, अमर, अकबर, एंथोनी, मर्द, कुली, प्रतिघात, राम तेरी गंगा मैली)**। अतः अपना अति मानव नायक प्रकृति (नियति), ईश्वर (धर्म), माँ और देश के अधीन और उनका अनुसेवी होता है।

नायक खलनायकों पर विजयी हो सकता है और उन्हें मार भी डाल सकता है जिससे वह उस कलंक को मिटा दे जो समाज को क्लेश पहुँचाये। फ़िर भी वह यह उपलब्धि ईश्वर की दया और अपनी माता के आशीर्वाद के ज़रिये ही प्राप्त करता है यदि ईश्वर की उस पर कृपा नहीं होती है तो वह नपुंसक रहता है इसलिए उसके लिए यह ज़रूरी होता है कि वह अपनी सहायता के लिए ईश्वर की प्रतीक्षा करते रहा। इससे आम लोगों के बीच भाग्यवादिता और निष्क्रियता की भावना ज़्यादा गहरी होती है। विभिन्न चरित्रों के बीच सम्बन्धों का समुच्चय भी नयी बात उद्‌घाटित करने वाला होता है नायिका की पहचान नायक की पहचान में मिला दी जाती है और नायक अपनी पहचान अपनी माँ की पहचान में घुला-मिला देता है और जो बदले में अपनी पहचान को अपने पति की पहचान में मिला देती है। बहरहाल पिता इन सारी फ़िल्मों में ग़ैर-महत्वपूर्ण दिखलाया गया है क्योंकि उसे सदा ही बहुत मामूली-सी भूमिका निबाहनी होती है। इस चक्कर में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलता जो पूर्ण, स्वतंत्र आक्रामक हो। सब के सब दब्बू आत्मसमर्पणकारी

परतंत्र व्यक्ति हैं जो उन्हें दी गयी सामाजिक भूमिका को आसानी से निबाहते हैं। समाज में अपनी स्थिति को पूरे मन से स्वीकार करते हैं ऐसे ही निष्क्रिय लचीले लोगों को आदर्श रूप में प्रदर्शित किया जाता है।

अतः ऊपरी धरातल पर हम व्यक्ति की आक्रामक सक्रिय क्रान्तिकारी छवि देखते हैं जो दर्शक को अंतःप्रश्न करने के लिए ज़रूरी है, लेकिन इसमें छुपा हुआ संदेश बिल्कुल ही अलग होता है। यह एक निष्क्रिय छवि है जहाँ व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है दूसरे पर निर्भर है, नमनीय और अधीनस्थ है वह एक सक्रिय कर्ता होने की बजाय निष्क्रिय विषय है अतः अभिव्यक्ति की प्रक्रिया सभी संभावित विध्वंसक और विरोधपरक अर्थबोध को घुला-मिला लेता है और निष्प्रभावी बना देता है।

यह प्रक्रिया एक दूसरे तरीक़े से भी कार्य करती है नायक को वर्गहीन बनाकर यह कार्य किया जाता है यद्यपि यह अधीनस्थ वर्ग का हो सकता है फिर भी उसकी सामाजिक भूमिका अथवा समाज में उसके सामाजिक आर्थिक स्थिति से उठने वाली समस्याओं पर कभी भी प्रकाश नहीं डालां जाता। दूसरे शब्दों में कहें तो वृत्तांत नायक को उसकी विशिष्ट वर्ग स्थिति से बाहर ले आता है और इस रूप में प्रस्तुत करता है कि जिससे वह किसी भी वर्ग का हो सकता है, नियंता वर्ग का भी। यह काम उसकी जीवन शैली को आकर्षक बनाकर किया जाता है जिससे कि उसके कुली होने के बावजूद वह इस तरह की ज़िन्दगी जीता है जिसके प्रति विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग के लोगों को भी ईर्ष्या हो सकती है। वह सर्वोत्तम कपड़े पहनता है, आधुनिक मोटर साईकिल में या आकर्षक ताँगे में घूमता है। वह जहाँ जाता है उस पर सुन्दर लड़कियाँ गिर-गिर पड़ती हैं। वह एक आरामदायक मकान में रहता है, उसे कभी भी दाल रोटी की या घर के लोगों की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। उसका एक स्वस्थ पारिवारिक जीवन होता है और ऐसे पक्के दोस्त होते हैं जो उसके लिए जान देने को तैयार रहते हैं। ग़रीबी का नाशक प्रभाव कभी भी प्रदर्शित नहीं किया जाता। वंचित लोग पशु के समान जो ज़िन्दगी जीते हैं वह हमारे नायक के लिए बिलकुल अलग बात है। यह तथ्य कि आम लोग काम करते हैं, फ़िल्मों में दबा दिया जाता है। यह तथ्य भुला दिया जाता है कि यह कार्य अरुचिकर और जानलेवा है और बिलकुल यही कारण है कि ये सारी फ़िल्में ख़तरे के साथ कौशलपूर्वक जीवन जीने को समाज में स्वतंत्रता के एक प्रतीक के रूप में दिखलाती है। यही वजह है कि फ़िल्म में केन्द्र बिन्दु सदा सक्रियता, साहस, रूमानियत और अत्यधिक सनसनी बनाये रखने पर होता है। यह बात फ़िल्म के दर्शकों के लिए आकर्षक होती है क्योंकि वह औद्योगिक पूँजीवादी समाज में काम की प्रकृति के वास्तविक सवाल के प्रति एक दिवास्वप्न उत्तर प्रस्तुत करती है। वह दर्शकों की ज़िन्दगी के सवालों के प्रति नया तो यथार्थवादी न ही वाँछनीय हल होता है बल्कि एक कल्पना लोक का विस्थापन होता है। स्पष्ट ही यह स्थिति इन फ़िल्मों में अस्पष्टता का एक सशक्त तत्व उत्पन्न करता है। ये फ़िल्में कामगार वर्ग की समस्या को पहचानती हैं किन्तु उसका सीधा सामाजिक और राजनीतिक हल देने की बजाय एक बचावपरक व्यक्ति-निष्ठ पलायन की परिकल्पना करती है।

सन्देश बिल्कुल सरल है वंचित लोग उससे सन्तुष्ट रहे जो कुछ भी, उनके पास है। उन्हें उससे ज़्यादा के लिए आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। यह सब मन में ही बड़बड़ाने और श्राप देने में कोई अर्थ नहीं है मुस्कुराहट और यहाँ-वहाँ कुछ धक्कों के साथ व्यक्ति सारी समस्याओं का सामना कर सकता है। वास्तव में एक व्यक्ति ग़रीबी में पड़कर उसके सुख उठा सकता है। यदि सही किस्म की मनोवृत्ति हो तो जीवन बहुत आसान हो सकता है। शिक्षा यही है : चिन्ता न करो - खुश रहो (25) यह बात **अमर, अकबर, एंथोनी, नसीब, नमक हलाल, मर्द, कुली, लावारिस** जैसी फ़िल्मों के विदूषक नायक की सफलता को स्पष्ट करती है।

नायक को वर्गविहीन बनाने की प्रक्रिया के अलावा नायक को दुर्लभ ही कभी उसके काम की जगह पर प्रदर्शित किया जाता है। एकाध शाट्स को छोड़कर जिसमें नायक को वह काम करते हुए दिखाया जाता है जो उससे करने की अपेक्षा की जाती है — कुली, ताँगे वाले या व्याख्याता होने के नाते— फ़िल्म के शेष भाग में यह कहना मुश्किल होता है कि उसका व्यवसाय क्या है नायक कुछ भी हो सकता है। नायक को उसके काम से अलग कर उसका चरित्रांकन उसे अनुत्पादक ग़ैर-रचनात्मक वर्गविहीन स्थिति में दिखलाकर किया जाता है। इस तरह उसकी सामाजिक रचनात्मक भूमिका अनदेखी कर दी जाती है। उसे समाज विशेष से जुड़ी समस्याओं को विशेष अलग-थलग, व्यष्टिगत समस्याओं के ज़रिये विस्थापित कर दिया जाता है। इस तरह से वाद-विवाद की पूरी आधार-भूमि विस्थापित कर दी जाती है और सारे सामाजिक मामले ग़ैर-राजनीतिक बना दिये जाते हैं। इससे भी अधिक नायक द्वारा अपना पूरा जीवन व्यष्टिगत समस्याओं के व्यष्टिगत हल को प्राप्त करने में खपा देने के कारण (इन फ़िल्मों में व्यष्टिगत समस्याओं का अर्थ बदला लेने से ज़्यादा कुछ भी नहीं होता) उसकी श्रम शक्ति ग़ैर-उत्पादक और ग़ैर-रचनात्मक दिशा में व्यर्थ गँवा दी जाती है। परन्तु जैसा मार्क्स ने सुझाव दिया था कि मानव श्रम मानव व्यवहार में है - प्रक्रिया के रूप में अवधारित जिसमें मनुष्य स्वयं विषयगत वास्तविकता में रूपान्तरित हो जाता है — और इस तरह वह खुद भी। मानव श्रम विषयगत वास्तविकता को रूपान्तरित कर देता है। और विषयगत वास्तविकता को रूपान्तरित करने में मनुष्य अपने अस्तित्व की परिस्थितियों को रूपान्तरित करता है और परिणामस्वरूप एक स्पेसी के रूप में खुद को भी रूपान्तरित कर देता है। इस तरह मनुष्य की दृष्टि में रचना की मानव प्रक्रिया उसके खुद की रचना की प्रक्रिया है। यह तो श्रम के मार्फ़त ही है कि मनुष्य का जन्म हुआ है और यह श्रम ही है जिसके ज़रिये वह परिवर्तित और रूपान्तरित होता रहता है। बहरहाल व्यक्ति को उसकी उत्पादक रचनात्मक भूमिका से अलग कर ये फ़िल्में उन संभावनाओं को पहले से ही समाप्त कर देती है जिनके ज़रिये व्यक्ति अपने अनूठे मानवीय गुण को साकार करता है; और इस तरह ये फ़िल्में व्यक्ति को स्वतंत्र रचना, स्वतंत्र साकारता और इसलिए वास्तविक स्वतंत्रता अर्जित करने की संभावना को समाप्त कर देती है।

स्थापित सत्ता और सामाजिक व्यवस्था के प्रति इन फ़िल्मों में जो रुख़ होता है वह भी एक समान ढर्रे में चलता है — एक मूल समस्या को उसमें स्वीकार तो किया जाता है परन्तु उसके लिए एक अस्पष्ट हल प्रस्तावित किया जाता है।

फ़िल्मों के निर्माण का मूल चाहे जो भी हो सभी पारम्परिक फ़िल्मों के केन्द्र में, अन्याय शोषण नियंत्रण की धारणा के विरुद्ध लड़ाई और विद्रोह। यही वह चीज़ है जो वृत्तान्त को आगे ले जाती है और कथा के विकास के लिए मूल श्रेणी उपलब्ध कराती है। शोषितों द्वारा किये जाने वाला प्रतिरोधी आक्रमण है जो दर्शकों के साथ अन्तःप्रश्न करता है। इस तरह नायक न केवल ज़ाहिराना तौर पर आक्रमण, विरोधी रूप अपनाता है परन्तु समर्पण वृत्तान्त विद्रोही मुद्राओं वाले क्रान्तिकारी संवाद में डूबा रहता है। आठवें और नवें दशक की फ़िल्मों की बाबत उल्लेखनीय बात यह है कि आक्रमण का लक्ष्य खलनायक मात्र नहीं होता परन्तु राज्य और उसकी संस्थाएँ भी होती हैं, ख़ासकर पुलिस और नायक फ़िल्म के ज़रिये जिस छवि को उभारने की कोशिश की जाती है वह यह है कि राज्य और उसकी संस्थाएँ कमज़ोर निष्प्रभावी निष्क्रिय और इसलिए समाज के लोगों को संरक्षण देने और समाज के लक्ष्यों तथा मूल्यों के बचाव में अक्षम हैं। ज़ाहिरा तौर पर सन्देश होता है राज्य और उसकी संस्थाओं पर तीखा हमला। पुलिस भ्रष्ट बिकी हुई कार्रवाई करने में असमर्थ और नपुंसक है, विधायकगण महत्वाकांक्षी, स्वार्थी, विवेकक्षुण राजनीतिज्ञ हैं और न्यायपालिका अंधी तथा चालाक वकीलों तथा पैसे वाले लोगों द्वारा अनुकूलित की जा सकने के योग्य है इस तरह की दिखाई देने वाली विरोधी मुद्रा के कारण इन फ़िल्मों को आमतौर पर व्यवस्था विरोधी फ़िल्म कहा जाता है।

सुपर नायक की तरह बुरे व्यक्ति भी सुपर खलनायक की भाँति प्रदर्शित किये जाते हैं। इन खलनायकों को बुराइयों का साकार रूप बतलाया जाता है और समाज में जितनी भी ख़राबियाँ हैं उसके इन्हें ही ज़िम्मेदार बताया जाता है। ये लोग विशेष अधिकार प्राप्त शक्तिशाली होते हैं और जब तक नायक नहीं पहुँचता तब तक इनका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। ये समाज को अपनी मर्ज़ी पर बंदी बनाये रखते हैं और इनके विरुद्ध खड़े होने वाले हर व्यक्ति का जीवन ख़तरे में होता है और जैसा कि किसी ने जंज़ीर में कहा है "इन इन्सानियत के दुश्मनों को अगर ख़त्म न किया गया तो हर आँगन में मौत नाचेगी"। बहरहाल न्याय और व्यवस्था की पारम्परिक संस्थाएँ इनके विरुद्ध कार्रवाई करने में अक्षम है। पुलिस अफ़सरों के लिए इन्हें गिरफ़्तार करना असंभव है क्योंकि उन्हें दीर्घ सूत्रीय नियमों के अन्दर काम करना होता है। और फिर यदि वे गिरफ़्तार भी कर लिये जाते हैं तो न्यायिक तंत्र में इतनी ख़ामियाँ हैं कि उनका छूट जाना सुनिश्चित हो जाता है इसी वजह से वृत्तान्त में न्याय पालिका और पुलिस की बहुत आलोचना रहती है इसलिए इनके ख़िलाफ़ भद्दी से भद्दी बातें कही जाती हैं 'कोर्ट के चारों तरफ़ कुत्तों की तरह दौड़ते रहोगे तब भी इन्साफ़ नहीं मिलेगा' (26) कानून और पुलिस के ऊपर से



मेरा विश्वास बचपन से ही उठ गया था''(27) ''कानून की आँखें किसी अच्छे डॉक्टर को क्यों नहीं दिखाते।''(28) ''कानून इतना गन्दा है कि मैं अपने हाथ इसमें गन्दे नहीं करना चाहता।''(29) इस तरह न्याय और कानून की संस्थागत संरचना के बाहर काम करके ही प्रभावशाली कदम उठाना संभव है। **जंज़ीर** में पुलिस अधिकारी विजय खलनायकों को पकड़ने और उनके काले धन्धे के अड्डों को ख़त्म करने में तभी सफल होता है जब उसे पुलिस से निकाल बाहर कर दिया जाता है। शोले में पुलिस अधिकारी बलदेवसिंह गब्बर के विरुद्ध बदला लेने और उसे पकड़ने में अपने साथियों की मदद से सफल नहीं होता बल्कि जय और वीरू जैसे गुण्डों को किराये पर लेकर काम करने में सफल होता है। **अंधा कानून** में पुलिस और न्यायपालिका के कारण अपराधी लोग मुक्त होकर घूमते हैं जबकि एक निर्दोष व्यक्ति जाँनिसार को उस मौत के लिए सज़ा दी जाती है जिसे उसने कभी किया ही नहीं था और फिर रजनीकांत जाँनिसार की सहायता से, दोनों ही पुलिस और न्यायपालिका का लगातार मज़ाक उड़ाते रहते हैं, खलनायकों को मार डालते हैं। दूसरी ओर उसकी बहन जो कि पुलिस अधिकारी है न केवल खुद को हर मौके पर अपने को मूर्ख साबित करती है वरन् अपराधियों को सज़ा दिलाने में भी असफल रहती है। **दीवार** में विजय तस्कर सामन्त को मार डालता है जबकि पुलिस अधिकारी रवि नहीं कर पाता। **मेरी आवाज़ सुनो** में नायक पुलिस अफ़सर है किन्तु उसे सेवा से बर्खास्त कर दिया जाता है क्योंकि वह खलनायकों से मोर्चा लेने के लिए कष्ट उठाता है और बलिदान देता है और जब उसे पुलिस सेवा से निकाल दिया जाता है तब वह खलनायकों को मारने में सफल होता है। फिर वह खलनायकों के मृत शरीरों को बाँधकर एक मोटर में ले जाता है और सीधे अदालत पहुँचता है। मानो न्यायपालिका को वह एक चुनौती दे रहा है और फिर पृष्ठभूमि से ये शब्द गूँजते हैं ''इस केस का फ़ैसला आपके हाथों में है'' और इस तरह अदालत के फ़ैसले को स्वीकार करने से भी मना कर दिया जाता है। **मुकद्दर का सिकन्दर**, कुली, मर्द, नमक हलाल

खलनायक के बीच लड़ाई खुले में लड़ी जाती है। जिसमें पुलिस या न्यायपालिका कहीं भी नज़र नहीं आती। **प्रतिघात** में पूरी व्यवस्था को नकारकर और उसे अपने बंदी बनाकर तथा लोगों के सामने एक पुलिस अफसर को मारकर काली घूमता रहता है लेकिन वह एक सामान्य कॉलेज़ व्याख्याता लक्ष्मी जोशी द्वारा ख़त्म कर दिया जाता है। इसका सन्देश सीधा-सादा है कि अपराध की सज़ा अदालत में नहीं बल्कि नायक और खलनायक की लड़ाई के मैदान में मिलती है। अतः नायक एक तत्काल आत्मनिर्भर न्याय का एजेंन्ट बन जाता है।

न केवल पुलिस और न्यायपालिका निष्प्रभावी है बल्कि व्यवस्था स्वयं ही एक खलनायक के रूप में प्रदर्शित की जाती है इसलिए नवें दशक की एकाध फ़िल्मों



में खलनायक तस्कर या डाकू नहीं है वरन् राजनीतिज्ञ है जो पुलिस और गुण्डे के साथ मिलकर कार्य करता है। राजनीतिज्ञ पुलिस और गुण्डे इस शक्तिशाली गठबँधन को समाज के कलंक के रूप में प्रदर्शित किया जाता है क्योंकि समाज के बाक़ी सब लोग इस गठबंधन के सामने असहाय और कमज़ोर नज़र आते हैं (**प्रतिघात, आख़िरी रास्ता, राम तेरी गंगा मैली, मेरी आवाज़ सुनो**) **प्रतिघात** में मंत्री के अपराधीकरण को समग्र रूप में प्रस्तुत करता है जब वह साहसिकता के साथ स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि "अपने डण्डे-राज से मिल रहा है पैसा और सत्ता", और जब गुण्डा काली अतिशयोक्ति के साथ पूछता है कि "एक भी नेता का नाम बताओ जो हमारी मदद के बग़ैर चुनाव जीता हो।" इन फ़िल्मों में एक खलनायक के विरुद्ध लड़ाई का अर्थ होता है स्वतंत्र व्यवस्था के विरुद्ध लड़ाई। यही वजह है कि वे विरोधात्मक और क्रान्तिकारी अभिधार्थ के साथ व्यवस्था विरोधी प्रतीत होते हैं इससे न केवल उन्हें दर्शक से अंतःप्रश्न करने में मदद मिलती है बल्कि टिकट खिड़की पर उनकी सफ़लता भी सुनिश्चित होती है। इस तरह सफल होने के लिए ये फ़िल्में सामाजिक यथार्थसत्ता के एक समाँगी विवरण

की रचना करती है, जिसके भीतर तभी सामाजिक विरोधाभासों को समाहित करना संभव हो सकता है इस तरह के परिप्रेक्ष्य का अर्थ यह होता है कि इन फ़िल्मों के कथा संसार में समाज के विरोधाभास और तनाव किसी न किसी रूप में शामिल या प्रदर्शित किये जाएँ, या तो उन्हें इस तरह परिभाषित किया जाये जिससे कि उनकी अनुपस्थिति प्रतिनिधित्व की प्रामाणिकता पर सवाल न उठाएँ अथवा फ़िल्मों की संरचना के भीतर उन्हें शामिल कर और इस तरह परिभाषित कर कि जिससे विरोधाभास सजाकर रख दिये जाएँ इससे इन फ़िल्मों में अन्तर्निहित आभासी-धैर्य के होने का पता चल जाता है। उदाहरण के लिए पुलिस व्यवस्था के बड़े अन्तर्विरोधों को संगठित श्रमशक्ति तथा अन्य अधीनस्थ समूहों के साथ संघर्ष के रूप में व्यक्तिगत किया जा सकता है, और ख़ासकर के ऐसे समय में जबकि इस तरह के संघर्ष के ज़्यादा से ज़्यादा सार्वजनिक होने जा रहे हैं, फ़िल्में निश्चय ही अपने कथा-संसार की संरचना में गहरी संरचना के स्तर पर सामाजिक यथार्थसत्ता के परावर्तन के आदर्शपरक कार्य को इस तरह सम्पन्न करती है कि सार्वजनिक कार्य के महसूस किये गये तनाव संरचना के भीतर ही होते है वे कभी भी संरचनात्मक नहीं होते और न ही आभासी संरचना के आभासी तर्क और समाँगिता को कभी भी ख़तरा नहीं पैदा करता। दूसरे शब्दों में कहें तो ये फ़िल्में पुलिस व्यवस्था के आदर संस्कार की संरचना यदि न करें, तो वे, जैसा कि रिचर्ड डायर ने हॉलीवुड की सनसनी-खेज और पश्चिम की चरवाहों की संस्कृति वाले चलचित्रों के संदर्भ में कहा है कि वे, एक ऐसा संसार रचती हैं जिसे कि आदर्श रूप में अनुभव किया जा सके, जिसमें सिवाय वास्तविक विरोधाभास तनाव के बिन्दुओं पर एक संगठनात्मक तत्वों को काम में लाकर हल किया जा सके।

दर्शकों के साथ अंतःप्रश्न करने की आवश्यकता की वजह से राज्य की संस्थाओं की अनुभव की गयी कमियों, कमज़ोरिजों और बुराईयों को फ़िल्म में शामिल करना और प्रदर्शित करना ज़रूरी हो जाता है। बहरहाल, अभिव्यक्ति की प्रक्रिया की ज़रिये सारी समस्याएँ इस तरह निपटायी और सुलझायी जाती हैं कि इन संस्थाओं पर किया गया कोई भी क्रान्तिकारी संरचनात्मक प्रहार उसी में समा जाता है और संदर्भहीन हो जाता है। यद्यपि इसका परिणाम यह होता है कि इन संस्थाओं में निरन्तर आभासी रूप से आक्रमण होता रहता है फिर भी वे पहले की अपेक्षा कहीं ज़्यादा शक्तिशाली उभरती जाती हैं उनकी स्थिति का मूल्यांकन कम होने या उनका उन्मूलन होने की बजाय वे वास्तव में कहीं ज़्यादा सुदृढ़ बन जाती है इसलिए सामाजिक सत्ता के ख़िलाफ़ व्यवस्था के ख़िलाफ़ विद्रोह वास्तव में एक पाखण्ड है।

यह बात अनेक तरीक़ों से उभरकर सामने आती है। सबसे पहले तो यह कि इन फ़िल्में की केन्द्रीभूत जीवन-गाथा में एक अलग-थलग नायक को एक असम्बद्ध सामाजिक संसार में पैठा दिया जाता है जिसमें व्यक्तिगत कार्य ही प्रभाव उत्पन्न होने को सुनिश्चित करते हैं। व्यक्ति की इस तरह की स्थापना के सिलसिले में महत्वपूर्ण बात यह है कि उसे इस तरह रखा जाता है कि वह समकालीन पूँजीवादी समाज के संदर्भ में व्यक्ति के वास्तविक रिश्ते को बचा जाता है— दूसरे शब्दों में कहें

तो इससे समाज के अधिकांश लोगों के श्रम के सामाजिक-बँटवारे के भीतर उनके कार्य के परिणाम से अलग कर देता है ये एक संसार है जिसमें व्यक्तिगत कार्य प्रभावकारी हैं। व्यक्तिपरकता की भावना सामूहिक आकांक्षाओं और क्रियाओं को अभिव्यक्त रूप से रद्द करने के मामले में वह *मिथीक* और आदर्शात्मक रूप से शक्तिशाली है।

इस तरह पुलिस व्यवस्था को सामाजिक नियंत्रण के सगठित संस्था के रूप में प्रदर्शित किया जाता है जिसमें पुलिस इस व्यवस्था की एजेन्ट है किन्तु ईंट के बदले पत्थर जैसे संघर्ष और टकरावपूर्ण रिश्तों के संदर्भ में प्रस्तुत किया जाता है। जहाँ कुछ फ़िल्मों में व्यक्तिगतता, नौकरशाही के कठोरपन, के विरुद्ध पर्याप्त क्षतिपूर्ति है, दूसरी फ़िल्मों में (उदाहरण के लिए अनेक सितारों वाली फ़िल्मों में वह एक समूह है जो नौकरशाही को अंतर्संबंधों के मानवीय समुच्चय के गुण द्वारा ध्वस्त करता है। लोक समाज के भीतर कुछ समूहों की यह सामान्य क्रिया एडोरनो और हार्क हेइमर द्वारा इस तरह रेखांकित किये गये हैं। "इन अलग किये गये समूहों में से बहुतेरों को संशलिष्ट किया जा सकता है उन्हें अनाम समूह और एक व्यक्ति के बीच दबावपूर्ण, समा लेने वाले कुशन के रूप में प्रायोजित किया जाता है।"[30]
दूसरी बात यह है कि फ़िल्मों में रूढ़िगत चरित्र के रूप में घमण्डी धनी-व्यक्ति अथवा कठोर मकान मालिक या कि पुलिस अधिकारी और राजनीतिज्ञ द्वारा निभायी जा रही विषयगत सामाजिक भूमिका पर हमला किया जाता बल्कि उनके निजी गुणों पर हमला किया जाता है कि वे अत्यधिक महत्वाकांक्षी निर्मम या परपीड़ा में सुखी होने वाले हों जैसा कि एडोरनो ने तर्क दिया है "विषयगत मामलों का एक नक़ली निजीकरण उसमें होता है।" उदाहरण के लिए एक भ्रष्ट राजनीतिज्ञ के जीवन से संबंधित फ़िल्म उसे संकट के क्षण में दिखलाई जाती है और फ़िल्म की अन्तर्वस्तु में उसके आन्तरिक और बाहरी चरित्र के पतन को प्रदर्शित किया जाता है वह ऐसा लगता है कि समाज में राजनीतिक संरचना के विषयगत गतिपरक स्वरूप को एकदम मूर्खतापूर्ण ढंग से प्रतिपादित करता दिखलाया जाता है। इस तरह की धारणा निर्मित की जाती है कि समाज में जितनी भी गड़बड़ियाँ हैं वे महत्वाकांक्षी राजनीतिज्ञों की (खलनायकों की) चरित्रगत गड़बड़ियों के कारण है और इन खलनायकों को उन पर लोगों की ईमानदारी, साहसिकता और प्रेम के ज़रिये उखाड़कर फेंक दिया जाता है। यह समझा जाता है दर्शक ऐसे ही नायकों के साथ तदाकार होते हैं जैसा कि राजनीति के मामले में होता है। जिन विचारों, प्रतिनिधियों पर हमला किया जाता है वे खलनायक के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं और जो सही उद्देश्य के लिए संघर्ष करते हैं वे व्यक्तिगत रूप से आदर्श माने जाते हैं इससे न केवल दर्शकों का ध्यान वास्तविक सामाजिक मुद्दों से केवल हट ही नहीं जाता बल्कि वे इस बात पर मजबूर हो जाते है कि वे समाज को काले (दुष्ट समूह) और सफ़ेद आदर्श समूह के रूप में मनोवैज्ञानिक रूप से अत्यधिक ख़तरनाक विभाजन के रूप में देखे। दूसरे शब्दों में कहें कि इन फ़िल्मों में जिस पर हमला किया जा रहा है वह व्यक्ति (विषयगत - व्यष्टिगत) भूमिका है और न कि पूँजीवादी/ज़मींदार/राजनीतिज्ञ

(विषयगत सामाजिक भूमिका) है। जब समस्या का समाधान इस रूप में अभिव्यक्त किया जाता है तो वह व्यक्ति की हत्या या सुधार के रूप में ही सामने आता है न कि समाज की संरचना के रूपान्तरण में इस तरह सामाजिक व्यवस्था जैसी की तैसी बनी रहती है और इसलिए यदि एक धनी व्यक्ति सुधार दिया जाता है या मार डाला जाता है तो वह व्यवस्था की ज़वरदस्ती के कारण जो शोषण उत्पन्न होता है वह बना रहता है और इसीलिए विशेष अधिकार प्राप्त तथा अधीनस्थ लोगों के बीच, भौतिक साधनों से सम्पन्न और विभिन्न लोगों के बीच फाँक उभरकर आती है इसका अर्थ स्पष्ट है: यदि हृदय परिवर्तित होता है तो सशक्त किन्तु भ्रष्ट राजनीतिज्ञ अच्छे कार्य कर सकता है; धनी उद्योगपति अपने लाभ का वितरण कर सकता है, क्रूर और परपीड़ा में सुख उठाने वाला ज़मींदार अपनी प्रजा के लोगों के साथ व्यवहार में उदार हो जाता है। इससे शिक्षा स्पष्ट है: जनता उन्हें समय-समय पर प्राप्त होने वाले टुकड़ों या अनुकम्पाओं के लिए अपने मालिकों पर सदैव निर्भर रहें और उनकी सदैव आभारी रहें। फ़िल्म के नायक की क्रान्तिकारिता से बस यही परिणाम निकलता है। क्रान्ति बस सिर्फ़ इतने के लिए ही है— मालिक लोग हमारी ओर कुछ टुकड़े फेंकने के लिए मजबूर हो जाएँ। जैसा कि मणि कौल ने कहा कि हो सकता है नायक कोई क्रान्ति कर रहा हो किन्तु उसके छवि की ऐन्द्रिकता इस तरह की है कि वह स्वामी-भक्ति और विचार समानता के अनुरुप ही होता है। अंत में क्रान्ति सम्पन्न हो जाने के बाद नायक वर्तमान व्यवस्था के कानून और न्याय का समर्थन करता रहेगा।"

इससे बढ़कर बात यह है कि राज्य और उसके संस्थाओं के भ्रष्ट होने तथा निष्प्रभावी होने का सन्देश एक दूसरे उद्देश्य की भी पूर्ति करता है और भी है सुरक्षा वाल्व की स्थापित व्यवस्था के भीतर उसकी कमियों के सन्तुष्ट प्रदर्शन को सामने लाना विरोधाभासी है किन्तु उसे अपरिवर्तनीय बतलाना उस व्यवस्था को ऊँचा स्थान देना है। इस अभिव्यक्ति की शैली सरल है; उस स्थापित मूल को ले लें जिसे आप पुनः स्थापित कर विकसित करना चाहते हैं: सबसे पहले उसकी

कमियों को और उससे उबरने वाले अन्याय को उद्घाटित करें, उन समस्याओं को बताएँ जो उससे उभरकर आती हैं या उसकी स्वाभाविक कमियों के कारण सामने आती है; और अन्त में उसके कलंकों के बावजूद भयावह श्राप के रहते हुए भी उसे बचा ले यह एक प्रकार की होम्योपैथी है; जनता को एक छुतही बुराई का टीका लगा दो जिससे कि एक दूसरी अनिवार्य बुराई दूर हो सके या कि उसका इलाज़ हो सके। स्थापित व्यवस्था और उसके मूल्यों को अमानवीयता के विरुद्ध क्रान्ति करना सोच के इस तरीक़े के अनुसार एक बीमारी है जो कि सर्वसामान्य सहज और क्षमा कर दिये जाने योग्य है; कोई भी व्यक्ति इस व्यवस्था से सीधी-सीधी टक्कर बिलकुल ही न ले वरन् उसके साथ एक थाती के समान व्यवहार करे; एक रोगी को उसकी बीमारी को प्रतिनिधित्व देने के लिए मजबूर किया जाता है, उसे अपनी क्रान्ति के स्वरूप के साथ परिचित कराया जाता है, उसकी क्रान्ति निश्चित तौर पर ही विलुप्त हो जाती है, क्योंकि दर्शकों का रोष व्यक्तियों के विरुद्ध है न

कि विषयगत मुद्दों के विरुद्ध। इस तरह की युक्ति एक छल है जिसके द्वारा लोगों
को धोखा दिया जाता है, जो मामले लोगों की ज़िन्दगी के लिए ख़तरा है उन्हें ढँक
दिया जाता है और उन्हें एक ऐसे परिलोक में ले जाया जाता है जहाँ एक असाधारण
नायक द्वारा सारे अन्याय दूर कर दिये जाते हैं, या एक बड़े मोटे आदमी का हृदय
परिवर्तन हो जाता है और वह ग़रीब तथा कमज़ोर लोगों की सहायता करना शुरू
करता है, जब तक लोग वर्गसंघर्ष को भूले हुए हैं, और जब तक आम लोगों के
क्रान्तिकारी संघर्ष का उल्लेख नहीं किया जाता है और समाज में प्रचलित मिथ
स्थायी कर दिये जाते हैं। रोलाँ बार्थ ने अपनी शैली में इसे इस तरह कहा है
"किसी वर्ग आवद्ध संस्था की आकस्मिक बुराई को स्वीकार करना उसकी सामूहिक
बुराई को छिपा देने का सबसे अच्छा तरीक़ा है। किसी सामूहिक कल्पना की अन्तर्वस्तु
को अभिस्वीकृत बुराई के एक छोटे से टीके को लगाकर बुराई सहन करने की शक्ति
दे दी जाती है; और इस तरह एक सामान्यीकृत विध्वंस के ख़तरे से उसे सुरक्षित
कर दिया जाता है।" [31]

बहरहाल इन फ़िल्मों के बाबत उल्लेखनीय बात यह है कि वह अपना कथ्य *कानून*
और व्यवस्था की समस्या के आसपास संगठित करती है। इससे पता चलता है कि
इस तरह की अधिकांश फ़िल्म में कम से कम एक समर्थक पुलिस अफ़सर की
भूमिका में होता है। (**जंज़ीर, दीवार, अंधा कानून, मेरी आवाज़ सुनो, अमर,**
अकबर, एंथोनी, प्रतिघात, आदि)। जिन फ़िल्मों में पुलिस अपनी अनुपस्थिति के
कारण ध्यान में बनी रहती है उनमें नायक अधिकारी की भूमिका निबाहता है और
कानून तोड़नेवालों से संघर्ष करता है तथा समाज में व्यवस्था स्थापित करता है।
दूसरे शब्दों में कहें तो समाज में सभी समस्याओं को इस तरह परिभाषित, विदित
और अभिव्यक्त किया जाता है मानो सारी समस्याएँ खलनायक द्वारा व्यवस्था भंग
किये जाने के कारण उठी है। और इसके लिए काम में लायी जाने वाली युक्ति
काफ़ी सीधी-सादी होती है। सबसे पहले व्यवस्था का मूल रूप प्रस्तुत किया जाता
है जहाँ हर चीज़ ठीक है हर कोई खुश है फिर यह व्यवस्था कुछ लोगों (खलनायकों
के) एक समूह द्वारा नष्ट कर दी जाती है। ये लोग व्यवस्था इसलिए नष्ट नहीं
करते हैं कि उनका विद्यमान राज्य के साथ कोई वैचारिक मतभेद है। परन्तु इसलिए
कि उनके चरित्र में ही गड़बड़ी है इसलिए वे ऐसा करते हैं। फ़िल्म-दर-फ़िल्म यही
छवि उभरती है कि राज्य कमज़ोर और निष्प्रभावी है। खलनायकों का एक समूह है
जो शक्तिशाली अपराधी संगठन है और जो समाज पर हमले कर रहा है। समाज
के छोटे असहाय लोग इस समूह के शिकार है, राज्य की संस्थाएँ जैसे, पुलिस बल
न्याय दिलाने वाली व्यवस्था, इन अपराधों को रोकने में निराशाजनक रूप से अपर्याप्त
है। अपराधी संगठन अपनी खुद की सेना बनाये रखते हैं और किसी को भी अपना
शिकार बना लेते हैं लेकिन राज्य उसकी और सिर्फ़ असहाय पूर्ण रोष व्यक्त करते
हुए देखता रहता है। अपराधियों को पकड़ने के लिए कानून में बहुतेरी कमियाँ हैं
जब नायक पुलिस अधिकारी होता है तब वह अपराधियों के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष
में लगातार निराश किया जाता है दूसरी ओर नायक असाधारण क्षमता वाले अच्छे

गों
क
ण
य
रू
के
थ
है
क
तु
क्ते
त

न
के
की
र,
के
और
है।
त
ग
क्ते
ता
कों
हीं
ए
ही
हैं
ज
ल
प्त
ना
रते हैं
र्ष
के



लोग होते हैं। चूँकि राज्य निष्प्रभावी है, नायक समाज के दायरे से बाहर निकलकर आता है और वैकल्पिक राज्य की स्थापना करता है। वे क्रियाशील इसलिए होते हैं क्योंकि उन्हें सीधे-सीधे नुकसान पहुँचाया गया होता है। राज्य की संस्थाओं के ज़रिये न्याय पाने की असफ़लता के कारण वे निर्मम रूप से बदला लेने वाले बन जाते हैं। बदला लेते हुए ये नायक उन्हीं खलनायकों जैसे बन जाते हैं जिनका वे पीछा करते होते हैं। ये नायक निर्मम और हिंसक होते हैं। वे कानून को दण्डमुक्त होकर तोड़ते हैं मुद्दा यह है कि नायकों और खलनायकों के बीच अच्छे-बुरे भेद को आसानी से ज़ोर देकर नहीं कहा जा सकता है। चूँकि नायक भूमिगत चरित्र खोते हैं (गुण्डे, मामूली चोर वग़ैरह) उनकी अच्छाई संदिग्ध रहती है। फ़िल्मों में नायक को संवेदना के साथ प्रस्तुत किया जाता है और खलनायक को बुराई के साकार रुप में। दोनों के बीच संघर्ष ही अपने आप में एक उद्देश्य होता है खलनायक को पराजित कर दिया जाता है और मौत के घाट भी उतार दिया जाता है। मूल-व्यवस्था को नष्ट करने वाले कलंक को इस तरह समाप्त कर दिया जाता है एक बार फिर से वयवस्था स्थगित कर दी जाती है। अब नायक/नायिका वैधानिक राज्य के समक्ष या तो आत्मसमर्पण कर देते हैं या उन्हें पकड़ लिया जाता है। इन फ़िल्मों में एक बुनियादी द्वैध दिखाई देता है एक ओर तो पुलिस को भ्रष्ट अक्षम और अशक्त रूप में प्रदर्शित किया जाता है। परन्तु सारी समस्याओं को कानून तथा व्यवस्था के भीतर परिभाषित तथा अभिव्यक्त कर ये फ़िल्म उन्हीं संस्थाओं के प्राथमिक महत्व तथा अपरिहार्यता पर ज़ोर देती है जिन पर वे प्रगट रूप में प्रहार करती है। सवाल यह है इन फ़िल्मों का वास्तव में सन्देश क्या है यदि हम उद्घाटित अर्थ को देखें तो यह प्रगट विरोधाभास बिखर जाता है और काफ़ी व्यवस्थित संसार का दृश्य उभरता है।

पुलिस संस्था पर प्रहार नहीं किया जाता है पर यह तथ्य सामने लाया जाता है कि पुलिस के कुछ लोग भ्रष्ट और बिके हुए है। इसी तरह न्याय-पालिका पर प्रहार नहीं किया जाता पर यह बतलाया जाता है कि अपराधियों को शायद ही कभी सज़ा होती है जबकि निर्दोष लोग अक़्सर ही बलि के बकरे बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो ये फ़िल्में एक ऐसी व्यवस्था का समर्थन करती है जिसमें प्रतिशोध बहुत तेज़ी से लिया जाता है और यही प्रतिशोध तत्काल न्याय दिलाता है। यह एक ऐसी चीज़ है जो कि केन्द्रीकृत एकाधिकारवादी राज्य संरचना में ही संभव है। इस तरह ये फ़िल्में सरकारी अफ़सरों को और अधिक शक्ति देने कर्तव्य के प्रति अंधश्रद्धा और अपने काम के प्रति पूरे समर्पण पर ज़ोर देती है— जो कि लगभग मानवेतर सम्मोहन है। इन सारी फ़िल्मों में निजी और सरकारी के बीच, प्रेम कर्त्तव्य के बीच, एक महान् गाथात्मक संघर्ष के लिए भूमि तैयार करती रहती है इस संघर्ष में सदैव ही कर्तव्य शीर्ष पर होता है और जिन लोगों ने अपना सब कुछ अपने कर्तव्य के लिए समर्पित कर दिया है उन्हें वास्तविक नायक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है उदाहरण के लिए **मेरी आवाज़ सुनो** में एक समारोह में नायक सुशील को अभिनन्दित करने के लिए इस तरह परिचित कराया जाता है : "ये हैं सुशील कुमार, बहादुर,

निडर, पुलिस इन्सपेक्टर'' और जैसा कि संभावित है सुशील कुमार कहता है ''वर्दी की इज़्ज़त पर कभी आँच नहीं आने दूँगा।'' **दीवार**, फ़िल्म इस तरह शुरू होती है। फ़िल्म उन पुलिस अफ़सरों के प्रति समर्पित है जो कानून को बनाये रखने के लिए अपने निजी हितों से ऊपर उठकर कार्य करते हैं, और नायक राजीव कुमार का अभिनन्दन किया जाता है। **प्रतिघात, कर्मवीर**, में पुलिस अफ़सर को ''फर्ज और ईमानदारी की जीती-जागती मिसाल के रूप में बतलाया जाता है यही वह आदर्श है जिसके अनुरूप पुलिस अधिकारियों को होना चाहिए उन्हें सुपरमेन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है ऐसे नायक जिनका अभिनन्दन किया जाता है और जिन्हें आदर दिया जाता है ऐसे सुपर पुलिस अधिकारियों से बनी पुलिस को कार्यरूप को साकार किया जाता है[32] पुलिस थाने की परिसीमा को पवित्र स्थल के रूप में चित्रित किया जाता है। **जंज़ीर** में जब शेरखाँ बैठने को होता है तब पुलिस इंसपेक्टर विजय उसके नीचे से कुर्सी को लात मारकर हटा देता है और चीख़ता है, ''ये पुलिस स्टेशन है, तुम्हारे बाप का घर नहीं।'' वास्तव में *फ़र्ज़, कानून, ड्यूटी, वर्दी* जैसी धारणाओं के प्रति अंधविश्वास व्यक्त किया जाता है और फिर उन्हें आदर्श रूप में सामने लाया जाता है।

इस तरह ये फ़िल्में पुलिस को कहीं अधिक शक्ति देने *दायरे के अन्दर रहकर कमाकाज* के सिद्धान्त का पालन करने के लिए प्रतिबद्ध पुलिस को इस सीमा को तोड़ने की आज़ादी देने के लिए तर्क देती है जब पुलिस इस तरह के समर्पण अधिकारियों से युक्त होगी तब वह अपराधियों का सफ़ाया करने, सारी समस्याओं को हल करने की स्थिति में होगा जिससे की वह समाज के न्याय और व्यवस्था को सुनिश्चित कर सकेंगे। इसी तर्क के ज़रिये इन फ़िल्मों में यह कहा जाता है कि न्यायि प्रक्रिया को अपराधियों पर मुक़दमें चलाने की लम्बी प्रक्रिया को समाप्त कर देना चाहिए और *तत्काल न्याय* के ज़रिये, विना साक्ष्य या गवाही पर ज़ोर दिये उन्हें ख़त्म किये जाने का आदेश देना चाहिए। अतः फ़िल्मों में पुलिस या न्यायपालिका की संस्था पर प्रहार नहीं किया जा रहा है वल्कि इन संस्थाओं की मनचाहे ढंग से काम करने से रोकने के लिए समाज उदार स्वरूप में रोक तथा सन्तुलन के पक्ष में तर्क दिया जा रहा है। उदार तथा लोकतांत्रिक मूल्यों पर प्रहार कर एक एकाधिकार तथा सशक्त पुलिस राज्य के लिए आधारभूमि तैयार की जाती है।

सवाल यह है कि कानून और व्यवस्था के वृत्तान्त के आसपास गुँथी हुई और अपराध से संबंधित आठवें और नवें दशकों की फ़िल्मों की बेहताशा लोकप्रियता का क्या कारण हो सकता है। हम अपराध के सामान्य पक्षों पर नज़र डालकर उस पर विचार करना शुरू कर सकते हैं। अपराध-कथा में आम तौर पर पाये जाने वाला एक तत्व यह है कि इसमें असामान्यता की निन्दा की जाती है, पथ विचलित का अपराधीकरण प्रदर्शित किया जाता है और सामान्य से इतर को नियंत्रित किया जाता है। अपनी आराम कुर्सी की सुरक्षा से हम इस पथ-विचलित व्यक्ति के अनुभव में स्थानापत्र रूप से सहभागी बन सकतें हैं और फ़िल्म के साफ-सुथरे कथा-संसार में लाये गये निर्दय दबावों को देख सकते हैं अतः समाज में स्वीकार्य व्यवहार की

लोग होते हैं। चूँकि राज्य निष्प्रभावी है, नायक समाज के दायरे से बाहर निकलकर आता है और वैकल्पिक राज्य की स्थापना करता है। वे क्रियाशील इसलिए होते हैं क्योंकि उन्हें सीधे-सीधे नुकसान पहुँचाया गया होता है। राज्य की संस्थाओं के ज़रिये न्याय पाने की असफलता के कारण वे निर्मम रूप से बदला लेने वाले बन जाते हैं। बदला लेते हुए ये नायक उन्हीं खलनायकों जैसे बन जाते हैं जिनका वे पीछा करते होते हैं। ये नायक निर्मम और हिंसक होते हैं। वे कानून को दण्डमुक्त होकर तोड़ते हैं मुद्दा यह है कि नायकों और खलनायकों के बीच अच्छे-बुरे भेद को आसानी से ज़ोर देकर नहीं कहा जा सकता है। चूँकि नायक भूमिगत चरित्र खोते हैं (गुण्डे, मामूली चोर वग़ैरह) उनकी अच्छाई संदिग्ध रहती है। फ़िल्मों में नायक को संवेदना के साथ प्रस्तुत किया जाता है और खलनायक को बुराई के साकार रुप में। दोनों के बीच संघर्ष ही अपने आप में एक उद्देश्य होता है खलनायक को पराजित कर दिया जाता है और मौत के घाट भी उतार दिया जाता है। मूल-व्यवस्था को नष्ट करने वाले कलंक को इस तरह समाप्त कर दिया जाता है एक बार फिर से वयवस्था स्थगित कर दी जाती है। अब नायक/नायिका *वैधानिक* राज्य के समक्ष या तो आत्मसमर्पण कर देते हैं या उन्हें पकड़ लिया जाता है।

इन फ़िल्मों में एक बुनियादी द्वैध दिखाई देता है एक ओर तो पुलिस को भ्रष्ट अक्षम और अशक्त रूप में प्रदर्शित किया जाता है। परन्तु सारी समस्याओं को कानून तथा व्यवस्था के भीतर परिभाषित तथा अभिव्यक्त कर ये फ़िल्म उन्हीं संस्थाओं के प्राथमिक महत्व तथा अपरिहार्यता पर ज़ोर देती है जिन पर वे प्रगट रूप में प्रहार करती है। सवाल यह है इन फ़िल्मों का वास्तव में सन्देश क्या है यदि हम उद्घाटित अर्थ को देखें तो यह प्रगट विरोधाभास बिखर जाता है और काफ़ी व्यवस्थित संसार का दृश्य उभरता है।

पुलिस संस्था पर प्रहार नहीं किया जाता है पर यह तथ्य सामने लाया जाता है कि पुलिस के कुछ लोग भ्रष्ट और बिके हुए है। इसी तरह न्याय-पालिका पर प्रहार नहीं किया जाता पर यह बतलाया जाता है कि अपराधियों को शायद ही कभी सज़ा होती है जबकि निर्दोष लोग अक़सर ही बलि के बकरे बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो ये फ़िल्में एक ऐसी व्यवस्था का समर्थन करती है जिसमें प्रतिशोध बहुत तेज़ी से लिया जाता है और यही प्रतिशोध तत्काल न्याय दिलाता है। यह एक ऐसी चीज़ है जो कि केन्द्रीकृत एकाधिकारवादी राज्य संरचना में ही संभव है। इस तरह ये फ़िल्में सरकारी अफ़सरों को और अधिक शक्ति देने कर्तव्य के प्रति अंधश्रद्धा और अपने काम के प्रति पूरे समर्पण पर ज़ोर देती है— जो कि लगभग मानवेतर सम्मोहन है। इन सारी फ़िल्मों में निजी और सरकारी के बीच, प्रेम कर्तव्य के बीच, एक महान् गाथात्मक संघर्ष के लिए भूमि तैयार करती रहती है इस संघर्ष में सदैव ही कर्तव्य शीर्ष पर होता है और जिन लोगों ने अपना सब कुछ अपने कर्तव्य के लिए समर्पित कर दिया है उन्हें वास्तविक नायक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है उदाहरण के लिए **मेरी आवाज़ सुनो** में एक समारोह में नायक सुशील को अभिनन्दित करने के लिए इस तरह परिचित कराया जाता है : "ये हैं [illegible]

निडर, पुलिस इन्सपेक्टर'' और जैसा कि संभावित है सुशील कुमार कहता है ''वर्दी की इज़्ज़त पर कभी आँच नहीं आने दूँगा।'' **दीवार**, फ़िल्म इस तरह शुरू होती है। फ़िल्म उन पुलिस अफ़सरों के प्रति समर्पित है जो कानून को बनाये रखने के लिए अपने निजी हितों से ऊपर उठकर कार्य करते हैं, और नायक राजीव कुमार का अभिनन्दन किया जाता है। **प्रतिघात, कर्मवीर**, में पुलिस अफ़सर को ''फर्ज और ईमानदारी की जीती-जागती मिसाल के रूप में बतलाया जाता है यही वह आदर्श है जिसके अनुरूप पुलिस अधिकारियों को होना चाहिए उन्हें सुपरमेन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है ऐसे नायक जिनका अभिनन्दन किया जाता है और जिन्हें आदर दिया जाता है ऐसे सुपर पुलिस अधिकारियों से बनी पुलिस को कार्यरूप को साकार किया जाता है[32] पुलिस थाने की परिसीमा को पवित्र स्थल के रूप में चित्रित किया जाता है। **जंज़ीर** में जब शेरखाँ बैठने को होता है तब पुलिस इंसपेक्टर विजय उसके नीचे से कुर्सी को लात मारकर हटा देता है और चीखता है, ''ये पुलिस स्टेशन है, तुम्हारे बाप का घर नहीं।'' वास्तव में *फ़र्ज़, कानून, ड्यूटी, वर्दी* जैसी धारणाओं के प्रति अंधविश्वास व्यक्त किया जाता है और फिर उन्हें आदर्श रूप में सामने लाया जाता है।

इस तरह ये फ़िल्में पुलिस को कहीं अधिक शक्ति देने *दायरे के अन्दर रहकर कमाकाज* के सिद्धान्त का पालन करने के लिए प्रतिबद्ध पुलिस को इस सीमा को तोड़ने की आज़ादी देने के लिए तर्क देती है जब पुलिस इस तरह के समर्पण अधिकारियों से युक्त होगी तब वह अपराधियों का सफ़ाया करने, सारी समस्याओं को हल करने की स्थिति में होगा जिससे की वह समाज के न्याय और व्यवस्था को सुनिश्चित कर सकेंगे। इसी तर्क के ज़रिये इन फ़िल्मों में यह कहा जाता है कि न्यायि प्रक्रिया को अपराधियों पर मुक़दमें चलाने की लम्बी प्रक्रिया को समाप्त कर देना चाहिए और *तत्काल न्याय* के ज़रिये, बिना साक्ष्य या गवाही पर ज़ोर दिये उन्हें ख़त्म किये जाने का आदेश देना चाहिए। अतः फ़िल्मों में पुलिस या न्यायपालिका की संस्था पर प्रहार नहीं किया जा रहा है बल्कि इन संस्थाओं की मनचाहे ढंग से काम करने से रोकने के लिए समाज उदार स्वरूप में रोक तथा सन्तुलन के पक्ष में तर्क दिया जा रहा है। उदार तथा लोकतांत्रिक मूल्यों पर प्रहार कर एक एकाधिकार तथा सशक्त पुलिस राज्य के लिए आधारभूमि तैयार की जाती है।

सवाल यह है कि कानून और व्यवस्था के वृत्तान्त के आसपास गुँथी हुई और अपराध से संबंधित आठवें और नवें दशकों की फ़िल्मों की बेहताशा लोकप्रियता का क्या कारण हो सकता है। हम अपराध के सामान्य पक्षों पर नज़र डालकर उस पर विचार करना शुरू कर सकते हैं। अपराध-कथा में आम तौर पर पाये जाने वाला एक तत्व यह है कि इसमें असामान्यता की निन्दा की जाती है, पथ विचलित का अपराधीकरण प्रदर्शित किया जाता है और सामान्य से इतर को नियंत्रित किया जाता है। अपनी आराम कुर्सी की सुरक्षा से हम इस पथ-विचलित व्यक्ति के अनुभव में स्थानापन्न रूप से सहभागी बन सकते हैं और फ़िल्म के साफ-सुथरे कथा-संसार में लाये गये निर्दय दबावों को देख सकते हैं अतः समाज में स्वीकार्य व्यवहार की

सीमाओं सहनशीलता की सीमाओं से परे एक कल्पना लोक हमारे समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

अपराध के प्रति हमारा लगाव नहीं है परन्तु समाज की एक विरूपता के रूप में अव्यवस्था की रचना के प्रति और सामाजिक व्यवस्था किस तरह पुनः स्थापित की जाती है इसके प्रति हमारा लगाव रहता है। यदि अपराध को अमूर्त, व्यक्तित्व-विहीन, लक्ष्यहीन, संकल्पहीन रूप में प्रस्तुत किया गया तो वह अपना अधिकांश आकर्षण खो देता। बहरहाल अपराध कथाओं में दर्शक के समक्ष एक ऐसा वृत्तान्त प्रस्तुत किया जाता है जो उसके चरित्रों की क्रियाओं की व्याख्या प्रस्तुत करता है और एक ऐसा निष्कर्ष रचता है जिसकी *आशा* हम उस वृत्तान्त में प्रस्तुत तनाव के उद्‌घाटन से करते हैं। हत्यारा पकड़ा जाता है, डाकू मारा जाता है, तस्कर और उसका अपराध अड्डा ख़त्म कर दिया जाता है ऐसा नहीं होता कि खलनायकी दण्डित न हो।

हिंसा के स्वाभाविक र तरे और समाज की सहनशीलता की सीमा का और भी सीधे ढंग से साक्षात्कार वि या जा सकता है। जिसका की कहीं ज़्यादा समकालीन सन्दर्भ हो अपराध-कथा के इस केन्द्र बिन्दु का कारण सामाजिक व्यवस्था के भंग होने के ख़तरे की प्रस्तुति की निर्भिकता में भी देखा जा सकता है— यह हरेक के लिह समझ लेना आसान है कि क्या ग़लत है और ग़लती को ठीक रकने के लिए जो कदम उठाये जा रहे हैं वे कितने सही हैं।

अपराध कथाओं को जिस विशिष्ट संदर्भ में देखा और निर्मित किया जाता है उससे भी इन सामान्य तरीक़ों की शक्ति बढ़ जाती है, आठवें और नवें दशक की राजनीतिक स्थिति के कारण भी इन फ़िल्मों को बहुत लोकप्रियता मिली।

जैसे-जैसे देश की राजनीतिक परिस्थिति में तनाव और विरोधाभास बढ़ा और वे ज़्यादा स्पष्ट रूप में दिखाई देने लगे वैसे-वैसे उन्हें मतैक्य की राजनीति की सीमाओं के भीतर नियंत्रित करना संभव न हो सका। मतैक्य नेहरू युग की राजनीति का प्रमुख प्रतीक था। ऐसी स्थिति में एक ही विकल्प था कि घटिया क़िस्म के लोकप्रिय तरीक़े अपनाये जाएँ। जब यह भी असफल हो गया तब बर्बर दमन और नग्न हिंसा का चक्कर चला जो आपातकाल के रूप में परिणामित हुआ। जब राजनीतिक सत्ता ने अपनी वैधता खो दी तो उसे बचाकर रखने के लिए ज़ोर-ज़बर्दस्ती और ठेकेदारी करने वाले तत्वों पर अधिकाधिक निर्भर रहकर बचाकर रखने की कोशिश की गयी इसने संजय गाँधी की बल प्रयोग में प्रवृत्ति को जन्म दिया और राजनीति के अपराधीकरण की शुरुआत हुई। अधीनस्थ लोगों के विरुद्ध अपराध बढ़ने लगे और विरोध के सभी स्वर बर्बरता के साथ दबा दिये गये। हिंसा का ज़हरीला चक्र तब अस्तित्व में आया जब राज्य द्वारा की जाने वाली हिंसा का जनता द्वारा प्रतिरोध किया जाने लगा। इस तरह के उत्तेजनापूर्ण वातावरण में कार्य करते हुए समाज को चारों तरफ़ से तेज़ी से घेरते हुए अग्नि को ज़्यादा लम्बे समय तक अनदेखा करना संभव नहीं था सातवें दशक की हल्की-फुल्की रूमानी फ़िल्मों की सफलता के लिए कोई मौक़ा नहीं था। टिकट खिड़की पर सफलता पाने के लिए पारम्परिक फ़िल्मों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे समाज

इन तनाव में निहित विरोध और परस्पर विरोधी तत्वों को शामिल करें; इससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण बात यह थी कि उनके इन परस्पर विरोधी की अवधारणा को अभिव्यक्ति देनी पड़ती थी यह बात तब अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गयी जब यह महसूस किया गया कि अत्यन्त थोड़े ही लोगों को समाज के वास्तविक विरोध का सीधा अनुभव या ज्ञान है दूसरे शब्दों में कहें तो ज़रूरत इस बात की थी कि खलनायक को पहचाना जाये जो समाज में सारी बुराईयों के लिए ज़िम्मेदार है चूँकि व्यवस्था के संरचनात्मक प्रभाव अत्यन्त अमूर्त और स्पष्ट है इसलिए लोगों के मन में भरे ज़हर को उगलने के लिए किसी लक्ष्य के रूप में उन्हें ऐसे शत्रुओं को पहचानने की ज़रूरत थी जिन पर हमला किया जा सके। फ़िल्मों ने बिलकुल यही उपलब्ध कराया— तस्कर, डाकू, गुण्डा, भ्रष्ट राजनीतिज्ञ और पुलिस अधिकारी, उग्रवादी, विदेशी तत्व आदि। शत्रुओं की पहचान कर लेने के उपरान्त इन फ़िल्मों ने उन्हें बिलकुल उसी रूप में परिभाषित करना शुरू कर दिया जिस रूप में नायकवादी राजनीति-गाथा में उन्हें परिभाषित किया जा रहा था। चूँकि ये खलनायक ही सभी समस्याओं की जड़ थे। उन्हें पूरी तरह दोगले के रूप में चित्रित करना ज़रूरी हो गया इससे न केवल पहचाने जा सकने वाले लक्ष्यों को उपलब्ध कराने में सहायता वरन् इससे विरेचन भी हो सका। खलनायकों को मार डालो और सारी समस्याएँ सुलझ जायेंगी। खलनायक को हिंसक प्रहार के प्रतीक से भी अधिक प्रयोग में लाया और एक लोक-राक्षस के रूप में वह समाज के पतन का प्रतिनिधि बन गया। कानून, अव्यवस्था, हिंसा, तोड़-फोड़, दमन, शोषण के विषय उस खलनायक के आसपास ही अभिव्यंजित किये गये जो सम्पूर्ण समाज को सुदृढ़ बनाने के लिए की गयी आलोचना के विभिन्न द्वंद्वों के केन्द्र में था इन फ़िल्मों ने खलनायक की इस तरह बनायी गयी छवि को मानदण्डों की पुनः स्थापना, अनुशासन की स्थापना, मतैक्य के विचार की वापसी और सबसे महत्वपूर्ण रूप से एक पतनशील शीर्ष नायकत्व की स्थिति को सहारा देने के एक साधन के रूप में इस्तेमाल किया।

इस तरह सिनेमा की कथा कानून और व्यवस्था के आसपास रची गयी सिनेमा के वास्तव में प्रमुख राजनीतिक कथा के पूरक के रूप में कार्य किया, जो कि इसी विषय-वस्तु के अनुरूप अभिव्यक्त की गयी थी दोनों में ही एक नये नायकत्व को प्राप्त करने के उद्देश्य से एक दीर्घकालीन रणनीति बनाये जाने पर ज़ोर दिया गया था जब इनका बार-बार पिष्ट-पेषण हो गया अक्सर पर्याप्त रूप में और अलग-अलग कथाओं के ज़रिये तब कानून और व्यवस्था पर बहस के मुद्दे स्थापित वाक्चातुर्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया जो एक ऐसी भूमिका तैयार करता जिस पर सारे मुद्दों पर बहस की जा सकती। इस तरह तनाव को विस्थापित किया जाने लगा और सुलझाया जाने लगा तथा दर्शकों के लिए आश्वासन और अर्थ के रूप में उनकी रचना की जाने लगी।

जब अपनी बात को ज़ोर देकर कहना अपराध के सार्वजनिक ज्ञान का एक हिस्सा बन गया तब राजनितिज्ञ रुझान और इन मुद्दों पर संपादकीय वक्तव्यों के कठोर होने का आधार बनने के लिए उन पर विचार किया जाने लगा और ...

कानून और व्यवस्था के तानेबाने के भीतर उभरे सवालों के एकाधिकारवादी हल को पाने की प्रवृत्ति को वैध रूप दिया जाने लगा। एक बार ऐसा हुआ तो पूरा आन्दोलन एकदम से ठप्प हो गया और तर्क स्वयं पूरक बनाये यह बात न केवल अपराध के मामले पर लागू होती है बल्कि समाज के पूरे तानेबाने के संबंध में लागू होती है।

यही वह *जटिल ढाँचा* है जो व्यवस्था की अवधारणा के केन्द्र में है। आठवें और नवें दशक में उसे इन संदर्भों में प्रस्तुत करना औद्योगिक कठिनाईयों, वैधता के भंग होने, राजनीतिक अस्थिरता, जय प्रकाश के आन्दोलन के उदय, सहमति के ज़रिये शासन करने की क्षमता और एक नये नायकवादी सिद्धान्त की रचना करने से संबंधित था। नायकत्व प्राप्त करने के लिए संघर्ष के एक हिस्से के रूप में राज्य के ज़ोर-ज़बर्दस्ती के साधन के विकास के साथ-साथ यह वैचारिक कार्य भी हो रहा था। इस तरह अनिवार्य सेवा संधारण अधिनियम, राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम, आतंकवादी और विच्छिन्नता (बचाव) विधेयक उनसठवें संविधान संशोधन अस्पताल तथा अन्य संशोधन अधिनियम, श्रमिक संघ अधिनियम और औद्योगिक विवाद (संशोधन) अधिनियम के रूप में ढेर सारी दमनकारी शक्तियाँ हैं।

इस तरह राजनीति और सिनेमा कथाओं ने एक ही रुख़ अपनाया सभी समस्याओं की जड़ में खलनायक है (आतंकवादी, अतिवादी, राष्ट्र विरोधी, विदेशी तत्व, इत्यादि) बतलाइये ये कितने ज़हरीले हैं और फिर राज्य की सारी संस्थाओं को इन तत्वों को समाप्त करने के लिए लगा दिया जाता है। सिर्फ़ एक बुनियादी धारणा के ज़रिये सभी हत्याओं, सभी नरसंहारों, सभी अधिकारों के दमन को न्यायोचित ठहराएँ, यह बुनियादी धारणा है। देश को विध्वंसकारी और राष्ट्र विरोधी तत्वों से बचाने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो पथविचलित हुए लोगों की कल्पित दुराचारिता सभी प्रकार के अधिनायकवादी उपायों और राज्य के द्वारा किये गये दमन के लिए आवश्यक औचित्य उपलब्ध कराता है।

राज्य के बढ़ते हुए अधिनायकवाद तथा पुलिस को आतंकवादी तथा विध्वंस (बचाव) विधेयक के ज़रिये दिये गये असीमित अधिकार के अलावा, एक और परिवर्तन आ गया है और वह है निजी अपराधवाद अथवा समानान्तर सरकार का विकास। ऐतिहासिक रूप से समानान्तर सरकार की अवधारणा स्थापित सरकार के प्रति चुनौती का प्रतिनिधित्व करती है क्योंकि समानान्तर सरकार आवश्यक रूप से स्थापित सरकार के विरोध में खड़ी होती है। बहरहाल आज हम देख रहे हैं कि विद्यमान सत्ता के समर्थन में समानान्तर सरकार का उदय हो रहा है। उदाहरण के लिए अख़बारों में ऐसे चित्र छपते हैं जिनमें पंजाब के पुलिस महानिदेशक एकदम युवा लड़कों को बन्दूक देते हुए दिखलाये गये थे इस अत्यधिक प्रचारित उपाय का उद्देश्य इन युवकों को एक सहायक सेना के रूप में संगठित करना है जो आतंकवादियों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान कर सके। इसी तरह आन्ध्रप्रदेश सरकार ने नक्सलवादियों के विरुद्ध ग्रामवासियों को शस्त्र देने की एक योजना घोषित की गयी है मुख्यमंत्री ने अनुशंसा की है कि प्रत्येक ग्राम सुरक्षा समिति के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को दो बन्दूक दी जाये। शासन नक्सलवादियों को मरा हुआ देखने के लि

है कि वह उन लोगों को ऋण देने के लिये तैयार है जो शस्त्र खरीदने के इच्छुक हैं। इसी तरह बिहार में निजी सेनाओं का लम्बे समय तक अस्तित्व रहा जिन्हें राज्य सरकार द्वारा मौन स्वीकृति दी जाती रही। दूसरे शब्दों में कहें तो नागरिकों को निश्चित वित्तीय तथा अन्य प्रलोभनों के द्वारा यह प्रसारित किया जा रहा है कि वे कानून अपने हाथों लें। इसका परिणाम यह हो रहा है अपराधों का सामना करने के नाम पर राज्य शासन चौकसी को प्रोत्साहित कर रहा है। फिर यह एक ऐसी चीज़ है जो पारम्परिक फ़िल्मों में बार-बार कही जाती है इन फ़िल्मों में बुनियादी तर्क यह दिया जाता रहा है कि यदि वैधानिक राज्य उतना ही सशक्त है जितना कि वैकल्पिक समूह (चौकसी करने वाले) तो समाज में कोई समस्या नहीं होगी इसीलिए जब नायक (चौकसी करने वाले) मूल व्यवस्था को पुनः स्थापित कर देते हैं तब या तो वे आत्म-समर्पण कर देते हैं या वैधानिक-सत्ता द्वारा पकड़ लिए जाते हैं। जिस उपलब्धि को वैधानिक-सत्ता प्राप्त करने में अक्षम रहती है उसे वैकल्पिक समूह ऐसे अर्जित कर लेता है। इसके पीछे तर्क यही है कि वैधानिक समूह के पास जोड़तोड़ करने की ज़्यादा स्वतंत्रता है— उन्हें वैधानिक सत्ता द्वारा लगायी गयी विभिन्न प्रकार की रोकों के अनुरूप कार्य नहीं करना पड़ता जो कानून-क़ायदों, नियमों, व्यक्ति के अधिकारों, नैतिकता, आदि के रूप में होते हैं। वे इन छोटी-छोटी चीज़ों की परवाह न करके उनके परे निकल जाते हैं। चूँकि ज़ाहिर बाध्यताओं के कारण वैधानिक सत्ता यह नहीं कर सकती उसे यह कार्य करने के लिए एक विकल्प समूह की सेवा की आवश्यकता होती है ये दोनों यद्यपि, वैधानिक रूप से और वैचारिक रूप से एक दूसरे के विरुद्ध है, वास्तव में उन्हें एक दूसरे की आवश्यकता होती है और वे एक-दूसरे के पूरक होते हैं।

अतः यह बात उजागर होती है कि हिन्दी पारंपरिक फ़िल्में जिस चीज़ को व्यक्त करने के लिए व्याकुल होती रही है वह वही है जो समाज के राजनीतिक वर्ग में हो रहा है— अधिनायकवादी राज्य संरचना का विकास सत्ता के दमनकारी साधनों की शक्ति में बेहताशा वृद्धि राज्य की मौन स्वीकृति के साथ पूरे देश में चौकसी करने वाले समूह का उदय कानून और व्यवस्था की कथा के भीतर सभी समस्याओं की अभिव्यक्ति, और न्यायिक प्रक्रिया का एक निश्चत रूप से विध्वंस। इस तरह जहाँ पारंपरिक फ़िल्में विद्यमान, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों से कच्चा माल और आधार प्राप्त करती है वहीं बदले में वे तेज़ी से विकसित हो रहे अधिनायकवादी चरित्र को न्यायपूर्ण और वैधानिक ठहराने में मदद करती है। बहरहाल जैसा कि हमने तर्क दिया था किसी प्रकार के कठोर सिद्धान्त का मामला नहीं है बल्कि ज्ञान और छवि की एक संरचना तैयार की गयी है। जैसा कि स्टुअर्ट हाल ने रेखांकित किया है कि "समाज की समग्रता के आसपास छवि, प्रतिनिधित्व और विचार उपलब्ध कराने के लिए जनसंचार माध्यम अधिकाधिक ज़िम्मेदार है, जबकि यह सामाजिक समग्रता उन सभी अलग-अलग और टुकड़े-टुकड़े से मिलकर बनाया गया है जो एक समग्र के रूप में समाँगी रूप से स्वीकार किया जा सकता है।"[33]

टिप्पणियाँ

1. एच टी का विचार है कि जन संस्कृति प्रचार का अंतःक्षेपण (Injection) है या पूर्णतः अकर्मण्य संज्ञाहीन दर्शकों का सामाजिकीकरण है। एस पी अवधारणा का तर्क है कि, मोटे तौर पर जो रास्ते में देखते हैं उसमें से उनके प्रत्यक्षज्ञान, पूर्वाग्रहों, पूर्व में बने विचारों आदि से नियंत्रित लेकर चुनते हैं। यह वर्गीकरण हर्बर्ट जे. गान्स ने दि **रिलेशनशिप बिटवीन मूवीज़ एंड दि पब्लिक एंड सम इम्पीकेशन्स फार मूवी क्रिटिसिज़्म एंड मूवी मेकिंग** (आय.सी. जार्वी, टूवर्ड्स **सोशियोलाज़ी ऑव् सिनेमा** में उद्धरित.

2. हिन्दी की रूढ़िगत फ़िल्मों के अधिकांश अध्ययन इसी ढाँचे से संचालित होते हैं। उदाहरण के लिए देखें आशीष सुधीर कक्कड़, लुत्ज़ अनिल सागी, चिदानंद दासगुप्त, ए.एल. बाशम आदि का कार्य.

3. **जन-संचार और समाज** पर केन्द्रित खुला विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम **दि मीडिया** : कांटेस्ट ऑव् स्टडी में उद्धरि

4. **क्रिटिकल सोशियोलॉज़ी** (पेंगुइन, 1955) पी. कोनेर्टन में टी. डब्ल्यू. एडार्मो, **सोशियोलॉज़ी एंड एमीरिकल रिसर्च**

5. क्रिस्टोफ़र कॉडवेल, **स्टडीज़ एण्ड फर्दर स्टडीज़ इन ए डाइंग कल्चर** (मन्थली रिव्यू प्रेस, 1971)

6. **मार्क्सिज़्म एण्ड लिटरेचर (आक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1977) में रेमण्ड विलियम, बेस एण्ड सुपर स्ट्रक्चर**

7. टेरी इगलटॅन, **मार्क्सिज़्म एण्ड लिटरेरी क्रिटिसिज़्म** (मिथुन, 1976)

8. एल. ट्राटस्की, **लिटरेचर एण्ड रिवॉल्यूशन** एन. एरबोर, 1971)

9. पी.मार्शरे, **ए थ्योरी ऑव् लिटरेरी प्रोडक्शन**, लंदन, 1978)

10. एच. मार्क्यूज़, **वन डाइमेंशनल मेन** आर्क, 1986)

11. ज्याँ लुई कॉमोली और ज्याँ नार्बोनी, **सिनेमा आइडियोलॉज़ी, क्रिटिसिज़्म** स्क्रीन में अनूदित खण्ड 12 अंक 1, 1971.

12. कल्चर, मीडिया एण्ड लैंगुएज (हटचिंसन, सी.सी.सी.एस., विश्वविद्यालय, बर्मिंघम, 1980)/एस. हाल, **इन्ट्रोडक्शन टू मीडिया स्टडीज़ एट दि सेंटर।**

13. **मास कम्यूनिकेशन इन सोसायटी** जे. कुर्रन (संस्करण) (एडवर्ड अर्नाल्ड ओपन युनिवर्सिटी, प्रेस के साथ, 1977) में एस. हाल, **कल्चर, दि मीडिया एण्ड दि आइडियोलॉजिकल इफ़ेक्ट्स।**

14. प्रिज़न नोटबुक्स (लंदन, लॉरेन्स एण्ड विशर्ट), ए. ग्रामसी।

15. अल्थुसर के अनुसार, विचारधारा, अत्यन्त परिशुद्ध संचालन द्वारा व्यक्ति के वस्तु में *रूपांतरण* यह उन सभी को रूपांतरित करता है) या उस पथ पर *कार्यों* का व्यवहार है (यह उन सभी पुर्नमुक्त करता है); जिसे मैं अन्तःप्रश्न या पुकारना कहता हूँ और जिसे कि हरेक दिन ही पुलिस (या अन्य) पुकार की पंक्तियों के साथ कल्पित किया जा सकता है। "ऐ वहाँ तुम!" अक्खड़ता के साथ, मेरे द्वारा कल्पित सैद्धांतिक दृश्य सड़क पर घटित होता है, जिस व्यक्ति को पुकारा गया है वह घूम जाता है। इस महज़ 180° के शारीरिक सम्परिवर्तन से वह एक में बदल जाता है। क्यों? क्योंकि वह यह पहचानता है कि पुकार *वास्तव* में उसे ही सम्बोधित थी। और "वास्तव में वह ही था जिसे पुकारा गया था (और किसी और को नहीं)।" देखें अल्थुसर **लेनिन एंड फिलासफ़ी एण्ड अदर एसेज़** (न्यू लेफ्ट बुक्स, लंदन 1977)।

16. **पोलिटिक्स एण्ड आइडियोलॉज़ी इन मार्क्सिस्ट थ्योरी,** (वर्सो, 1977) पृष्ठ 171. ई. लाकलाऊ।

17. वही पृष्ठ 172.

18. वही पृष्ठ 173.

19. शो टाईम, मई 1984 और ट्रेड गाईड 1988। जिन फ़िल्मों ने बड़े सी चिन्ह को पार किया वे हैं **शोले** (1975), *अमर अकबर एन्थोनी* (1977), **मुकद्दर का सिकन्दर** (1978), **एक दूजे के लिए** (1981), **लावारिस** (1981), **नसीब, नमक हलाल** (1982), **अंधा कानून, कुली** (1983), **शराबी** (1984), **राम तेरी गंगा मैली, मर्द** (1985), **प्रतिघात** (1987).

20. जुलाई 1985 तक राजेश खन्ना ने 86 फ़िल्मों में काम किया है। स्टार एण्ड स्टाइल, जुलाई 1985.

21. एम.एस.एस. पांडियन, **वरदराजा मुदलियर : काउंटर ऑबिचुरी,** इकॉनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, अप्रैल 23, 1988.

22. **मर्द** में

23. **अमर अकबर एन्थोनी** में

24. **कुली** में

25. **तूफान** में अमिताभ बच्चन द्वारा गाया गया गीत। यह दर्ज़ करना महत्वपूर्ण होगा कि गुस्सैल, युवा और हास्य नायक दोनों ही का चमत्कार एकस्तरीय है। थोड़ा-सा अलग तरीक़े से हमेशा ही आधिपत्यात्मक व्यवहार को समर्थन देता हुआ।

26. **प्रतिघात**

27. **अंधा कानून**

28. **अंधा कानून**

29. **अंधा कानून**

30. जिओफ़्रे हर्ड, **दि टेलीविज़न प्रजेन्टेशन ऑव् द पोलिस,** टी. बेनेट द्वारा पुस्तक **पापुलर टेलीविज़न एण्ड फ़िल्म** (खुला विश्वविद्यालय प्रेस, 1985 के सहयोग से बी.एफ.आई. द्वारा)

31. रोलाँ बार्थ माइथोलॉजिज़

32. राजनीतिक संदर्भ में ठीक इस प्रकार का महानायक चमत्कार साक्ष्य रूप में है। समय के अन्य विन्दुओं के रूप में सुपर स्टार का विचार करें जैसे रिबेरो, किरण बेदी, गिल आदि.

33. जे. कुर्रन की पुस्तक **मास कम्युनिकेशन एण्ड सोसायटी,** (खुला विश्वविद्यालय प्रेस... अर्नोल्ड द्वारा) में एस. हाल का निबन्ध **कल्चर, द मीडिया एण्ड द आइ...**

सिनेमा टेलीविज़न और भारत

श्याम बेनेगल

1\. 1896 में, लुमियर के आविष्कार के भारत में प्रदर्शन के बाद सिनेमा को उत्साह के साथ अपनाने में देश को कोई ज़्यादा वक़्त नहीं लगा। 1913 में दादा साहब फालके पौराणिक फ़िल्म बना चुके थे। आगामी तीन वर्षों में देश के अन्य भागों में और भी फ़िल्में बनीं। शताब्दी के मध्य में भारत दुनिया का सबसे बड़ा कथा चित्र निर्माता देश बन गया। सिनेमा ने लोगों के सबसे बड़े और इकलौते मनोरंजन माध्यम के रूप में जगह बनाली। टेलीविज़न द्वारा इसकी महत्वपूर्ण जगह ले लेने के पहले इसके इतिहास में संचार के जन-माध्यम के रूप में देश की पंद्रह फ़ीसदी से भी कहीं अधिक जनसंख्या तक पहुँचने में की विशेषता अर्जित कर रखी थी।

2\. मनोरंजन के प्रमुख माध्यम के रूप में विकसित होकर सिनेमा ने पौराणिक, ऐतिहासिक प्रेम-कथाओं, गीत, नृत्य और अन्य मनोरंजन के पारम्परिक रूपों के ख़ास तत्वों को समाहित कर लिया। ये सभी सफलतापूर्वक या सफलतापूर्वक नहीं, फ़िल्म माध्यम में अनुकूलित कर लिये गये। फ़िल्मों के निर्माण और प्रस्तुतीकरण में तकनीकी के समावेश ने इसे नागर माध्यम बना दिया। इसलिए सिनेमा के लिए स्वाभाविक ही था कि वह नागर संवेदना को रूपायित करे। इस संवेदना की अनुगूँज दर्शकों में पायी गयी जो कि सर्वाधिक तौर पर शहरी थी। यदि आप फ़िल्मों को देखें, ख़ासकर शताब्दी के पहले चार दशकों की, तो अधिकांश फ़िल्मों की विषय-सामग्री की अभिकल्पना नागर भारत की मनोरंजन संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने की थी। तो भी, वहाँ कुछेक अपवाद भी हैं। यह भारत के उन हिस्सों में हुआ जहाँ सिनेमा अर्धनगरीय और कुछ हद तक ग्रामीण जनसंख्या तक पहुँच सका। मराठी, तेलुगु और तमिल भाषा की कुछ फ़िल्में ग्रामीण लोकाचार को प्रतिबिंबित कर सकीं। पर फिर भी, इस दौर की अधिकांश फ़िल्में नागर भारत के सामाजिक और वैयक्तिक सरोकारों को प्रतिबिंबित कर सकीं, परिवार व्यवस्था की पवित्रता राष्ट्रीय पहचान, प्रजायी औद्योगिकीकरण से प्रसूत अव्यवस्था और सामाजिक आदर्शों का निरंतर प्रबलीकरण जो ग्रामीण से नगरीय अस्तित्व में अभिघातज भय में प्रकट होता है।

3. स्वतंत्रता के बाद यह सब नाटकीय ढंग से बदल गया। औद्योगीकरण के प्रसार, जनसंख्यां के दौड़ पथ में विस्तार और इसकी शहरों में बाढ़, नागर शहरी क्षेत्रों के पूरे देश में अंकुरण से सिनेमा दर्शकों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। इस बढ़ी हुई दर्शक संख्या की अपेक्षाओं को पूरा करने में फ़िल्मों का चरित्र ही बदल गया। अत्यन्त विपरीत आर्थिक और सामाजिक पृष्ठभूमि वाले नितांत अलग-अलग नये दर्शकों के लिए एक आम हर का विचार करना पड़ा। फ़िल्मों ने दर्शकों में हुए परिवर्तन को प्रतिबिंबित करना आरंभ कर दिया। आख़िरी तीन दशकों में, पुराने कथा-तत्व और पारंपरिक कहानी के प्रति आग्रह बदल गये और नये सनसनी तत्वों पर भरोसा करने के लिए ज़ोर दिया जाने लगा।

तत्वों, अभिनय की स्थूलता, हिंसा, सैक्स और बर्बरता पर आसान पहचान के लिए भरोसा करने पर भी ज़ोर बढ़ा बनिस्बतन आरंभिक संवेदी स्तर के। दूसरे शब्दों में, वहाँ संवेदनाओं का लुंपेन आकांक्षाओं की ओर एक सामान्य पतन था।

वहाँ इस अधोगमन के लिए अनेक वजहें थीं। यहाँ मैं उन पर नहीं जाऊँगा क्योंकि इनके लिए भी एक आवश्यक गहराई के साथ विचार करना होगा। यह कहना पर्याप्त होगा कि भारत पर उपनिवेशवाद के अत्यंत गहरे प्रभाव और असर के कारण हम खुद अपने आपको एक उपनिवेशवादी निगाह से देखने लगे हैं। इसका सर्वाधिक निराशाजनक परिणाम यह रहा कि हम अपनी परिस्थितियों का सहज और मूलभूत तरीकों से सामना करने में असफल रहे। इससे स्पष्ट है कि हम पुराने विचारों से कटकर, जिनकी अब कोई ज्यादा विश्वसनीयता भी नहीं रह गयी है, नहीं मौलिक अवधारणाएँ, विचारधाराएँ, दर्शन रच सके हैं और हमारा रुझान महज़ पश्चिम से हरेक चीज़ की साहित्यिक चोरी या नक़ल का रह गया है। इसका जो सर्वश्रेष्ठ है वह यह कि राष्ट्रीयता की हमारी अवधारणा और प्रजातंत्र के अधिमान पश्चिम से ही आये हैं। और इसका जो सबसे निकृष्ट है वह यह कि इसने हमें एक दोयम दर्ज़े की संवेदना में विकसित किया है। हमारी फ़िल्में निरंतर रूप से इस पक्ष का प्रदर्शन करती हैं। जब वे किन्हीं कहानियों, कथानकों, थीम या विचार का प्रयोग करती हैं तो वे तत्काल ही कोई नक़ल या साहित्यिक चोरी हैं। इस मापदंड से सर्वाधिक रचनाशील मनोवेग धकिया दिये गये हैं जिसका अंतिम परिणाम प्रामाणिक अभिव्यक्ति की कमी ही होगा। 1950 के दौरान बंगाल के कुछेक फ़िल्मकारों ने जिनमें सत्यजीत राय सबसे प्रमुख थे, इसे दो टूक महसूस किया था। दृश्य में आगे दो दशकों के बाद मेरा अपना अनुभव भी वही था। देश की मुख्यधारा की फ़िल्में किन्हीं निजी या सामाजिक सरोकारों की अभिव्यक्ति में निरी असफल थीं। ये केवल फ़ार्मूलों से अभिभूत दिखायी देती थीं और खुद को नक़ल से नया बनाती थीं। यथार्थ के अभाव, वास्तविक जीवन के अ...

मुख्यधारा सिनेमा को अपने उद्देश्यों में चालबाज़ बना दिया। इसकी सबसे बड़ी सफलता इसी में थी कि इसने अपनी चालबाज़ियों के निष्पादन में दर्शकों को भी सहयोगशील बना लिया था। इस प्रकार मुख्यधारा सिनेमा का निर्माण पूर्णतः शोषण है।

परिस्थिति एक नयी संवेदना, एक नये कथ्य और एक नये रूप के लिए तरस गयीं। मनोरंजन को उस घेरे से पुर्नपरिभाषित किये जाने की ज़रूरत थी जिसमें यह जकड़ लिया गया था। भारत में सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवर्तनों के प्रति फैली उदासीनता से लड़ने की ज़रुरत थी। यह भावना, बहुत स्पष्ट रूप से तो नहीं लेकिन हमारे समाज में बहुत लंबे समय से महसूस की जाती रही। सिनेमा में यह दिखना आरंभ हुई बंगाल में 1950 में, बाद में केरल और कर्नाटक में 1960 के उत्तरार्द्ध में और हिंदी सिनेमा में 1970 में। सफलता के परिवर्तित होते अंशों के साथ नये सिनेमा ने हमारे समाज और संस्कृति में हो रहे परिवर्तनों से प्रतिक्रिया से आरंभ किया। आज चीज़ें जैसी हैं, इसका थोड़ा बहुत गतिबल ख़त्म हो गया नज़र आता है, लेकिन यह असफलता आंदोलन की उतनी नहीं है जितनी यह इसका एक विकास है। व्यक्तिशः फ़िल्मकारों के सरोकार ज़्यादातर अपने तक ही सीमित हैं बनिस्बतन अपनी निजी आवाज़ें खोजने के। यह संभवतः कैसे यह होना चाहिए। संभवतः प्रक्रिया में, वे शायद नये सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांतों को रच सकें और मौलिक ढंग से सिनेमा शब्दकोष को विस्तृत कर सकें, जिससे भारतीय सिनेमा की दृढ़ बुनियाद रखी जा सके।

इस प्रकार, मैंने मुख्यतः बतौर मनोरंजन माध्यम भारतीय सिनेमा के इतिहास और विकास पर विचार किया है। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि फ़िल्म माध्यम अनेक उपयोगों के लिए समर्थ है। और सामाजिक परिवर्तन के महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में इसका सूचनात्मक और शैक्षिक उपयोग हो सकता है। कोई कह सकता है कि इसका निदेशात्मक उपयोग भी है। स्वतंत्रता के तुरंत बाद, भारत शासन ने राष्ट्र और राज्य, दोनों ही की जनता को सूचना देने के लिए फ़िल्म माध्यम का उपयोग करने के लिए फ़िल्म्स डिवीजन की स्थापना की गयी, साथ ही साथ त्वरित विकास के अर्थों में विकासात्मक प्रक्रिया में सहयोग के लिए भी। फ़िल्म का वृत्तात्मक रूप या सृजनात्मक अर्थों में यथार्थ के प्रतिनिधित्व के लिए फ़िल्म का संभावित उपयोग इस उद्देश्य के लिए बिल्कुल उपयुक्त है। दुर्भाग्यवश, यह उद्देश्य बड़े पैमाने पर अपूरित ही रह गया यहाँ इसके कारण बहुत ही साधारण से हैं। यदि वे पूरे हुए भी तो बहुत ही सतही तौर पर। सूचना प्रदान करने की जगह प्रचार पर ज़ोर दिया गया। राष्ट्रीय योजनाएँ और कार्यक्रम बड़े विस्तार के साथ उजागर किये गये। लेकिन क्रियान्वयन की समस्याओं का निराकरण नहीं किया गया। सफलता का दावा वहाँ किया गया जहाँ कुछ था ही नहीं। सूचना की अवधारणा एक दुर्घटना के रूप में सामने आयी।

तो बिल्कुल कभी-कभार, यदि हुआ भी तो विकासात्मक प्रक्रिया प्रतिबिंबित हुई, इसका समाज पर प्रभाव सामाजिक क्रांति और परिवर्तन ये सब अनिवार्य रूप से इसके परिणामस्वरूप उभरना ही चाहिए। न तो उपयोगी दृष्टिकोण, न ही राजनीतिक युक्तिकरण, न ही सामाजिक आर्थिक लक्ष्यों उनका रूपांतरण कभी संभव हुआ। कुछेक फ़िल्मों ने इसकी कोशिश भी की तो वे या तो निरस्त कर दी गयीं या फिर ज़ारी होने से ही रोक दी गयीं। सिनेमा एक निदेशात्मक माध्यम है इसीलिए यह जनता द्वारा अप्रतिष्ठित ही रह जाता है। वृत्तचित्र की अनुक्रिया पूर्णतः नगण्य है और इसीलिए दिलचस्पी में पूर्णतः कमी भी है। फिर भी, 1960 के उत्तरार्द्ध में और 1970 के पूर्वार्द्ध में एक दौर रहा है जब फ़िल्म्स डिवीजन में उल्लेखनीय काम हुआ है। यह तब ही हुआ जब इसके लिए सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त रहकर काम कर पाना संभव हुआ। वृत्तचित्र के रूप में फ़िल्म का निदेशात्मक इस्तेमाल तब भी संभव है जब यह जनता के लिएं सुगम हो। इसमें लोगों की सहभागिता अनिवार्य है। यह एक उत्प्रेरक के रूप भी हो सकती है तब जबकि इसमें जनता बतौर विकासात्मक प्रक्रिया शिरकत करे। मेरी नज़र में, वृत्तचित्र के लिए जो अकेला भविष्य बचा हुआ है तब जब कि समुदाय इसके निर्माण में बिना सरकार पर निर्भर या भरोसा किये शिरकत करे। ऐसी में से जो उल्लेखनीय फ़िल्म हैं आनंद पटवर्धन की **बाम्बे हमारा शहर**और सुहासिनी मुळे की **भोपाल ट्रेजेडी**। हाल ही में टेलीविज़न के लिए भी बहुत उत्कृष्ट काम हुआ है। उनमें उल्लेखनीय नलिनी सिंह के दो वृत्तचित्र **बूथ केप्चरिंग** और **भागलपुर रियाद्स** हैं।

इसके बाद हम टेलीविज़न पर आते हैं। जब टेलीविज़न भारत आया, या कहें कि दिल्ली में, कोई तीन दशक पहले, तब इसके लक्ष्य बिलकुल स्पष्ट थे माध्यम का उपयोग सूचनाओं के प्रसार, शिक्षा के प्रचार, और उसी क्रम में मनोरंजन की उपलब्धता के लिए। समय के साथ यह आज की स्थिति में विकसित हुआ। लक्ष्य तो वही बने रहे लेकिन आज यथार्थ पूरी तौर पर बदल गया है। सिनेमा से अलग भारत में टेलीविज़न एक एकाधिकार है — राज्य का एकाधिकार और वह देश की राजधानी में केन्द्रीभूत हो गया है। यह दोनों ही, एक तरफ़ लाभ भी है और साथ ही साथ भारी हानि भी, यह हानि देश की जनता से सम्बद्ध है। भारत एक जटिल विभिन्नताओं का देश है। इसकी सांस्कृतिक विभिन्नताएँ एक वर्णक्रम में महसूस नहीं की जा सकतीं। भारत में टेलीविज़न का उपयोग जिस तरह होता है वह एकाश्मक और एक समाँगी शक्ति के रूप में दिखायी पड़ता है। दुर्भाग्यवश यह ठीक वैसा ही नहीं है। इसके प्रोजेक्शन का तरीक़ा आरोपण का है और इसका संदेश सभी के द्वारा समानुरूप ढंग से नहीं लिया जाता। मुझे स्पष्ट करने दीजिए, कोई भी संचार, ग्रहिता की समझ के स्तर पर ही ग्रहण होता है। संचार से ग्रहिता की सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक

शब्द संसार की निकटता से ही संचार को और अधिक पूर्णता मिलती है। एक केन्द्रीभूत संचार-प्रणाली भारतीय टेलीविज़न की तरह अक्सर अनपेक्षित तरीक़े से प्रभावित करते हैं जैसे संकेत हैं वे उससे अलग जिस पर्यावरण में ग्रहीत किये जा रहे हैं उसमें ही पठित होते हैं। उदाहरण के उपभोक्ता वस्तुओं का गाँवों में विज्ञापन।

तो उनके उद्देश्यों पर फिर से लौटें। कोई सूचनात्मक या शैक्षिक संचार तब सर्वश्रेष्ठ काम करता है जब द्विपथ संचार हो। टेलीविज़न को इन क्षेत्रों में एक मूल्यवान उपकरण होना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि विकेन्द्रीकरण हो और वह दर्शकों के लिए सुगम हो। आरंभ कर रहे टेलीविज़न द्वारा समुदायों और समूहों के लिए कार्यक्रम बनाये जाने चाहिए कि वे इनमें शिरकत कर सकें। जैसा कि यह यथार्थ में है उससे कहीं अधिक क्रांतिकारी लग सकता है। आज टेलीविजन में जो हो रहा है वह दो कारणों से हो रहा है। कोई सरकार सत्ता में आने के बाद देखती है कि यह एक शक्तिशाली उपकरण है जिसका उपयोग स्थायीकरण के लिए किया जा सकता है। दूसरे विशाल दर्शक समुदाय की अपेक्षाओं को परिपूरित करने के लिए कार्यक्रमों को लोकप्रिय मिजाज का बना दिया जाता है। चाहे कोई इसे पसंद करे न करे लेकिन कार्यक्रमों का अधिक लोकप्रियीकरण, उससे अधिक राजस्व की आमदनी और ठीक इससे उलट भी। इससे मुक्त हो पाना अब मुश्किल हो गया है। इन दबावों से एक-बारगी इसमें फँस सकते हैं, परिणामस्वरूप टेलीविज़न देश में सबसे बड़े मनोरंजन माध्यम के रूप में उभर आया है। और एक बार फिर मनोरंजन, जैसा कि सिनेमा द्वारा परिभाषित किया गया है। टेलीविज़न का मुख्य तत्व बन गया है। क्या टेलीविज़न स्वतः इससे मुक्त हो सकता है? संभवतः यह सवाल के रूप में भी उपस्थित नहीं है। क्या टेलीविज़न इस परिस्थिति से स्वतः बाहर निकल आना चाहता है? मैं सोचता हूँ कि नहीं, क्योंकि जो राजस्व मिल रहा है वह अविचारणीय नहीं है। क्या कुछ किया जा सकता है? मुझे विश्वास है कि परिस्थिति बदली जा सकती है। शुरुआत के लिए गुणवत्ता के मानदंड बदलना चाहिए। आरंभ करने के लिए, गुणवत्ता के मानदंड स्थापित किये जाने की ज़रूरत है। एक पीठ (Bench) चिन्ह जैसा कि यह था। यह सब करने के क्रम में एक सौंदर्यशास्त्रीय और बौद्धिक विशेषता के कार्यक्रम तैयार किये जाने की आवश्यकता है। हमेशा इसे किसी संस्थान पर, बतौर दूरदर्शन या सरकार के करने के लिए नहीं छोड़ा जा सकता। यह फ़िल्म और टेलीविजन निर्माताओं द्वारा किया जाना चाहिए। इसके लिए टेलीविज़न में मेरा काम समर्पित रहा है। हमें मानदंड बनाने होंगे चाहे वे मनोरंजन में हों या शिक्षा में।

अनुवाद : **श्रीराम तिवारी**

भारतीय सिनेमा के खल'नायक

ईमो सिंह

प्राचीन फ़ारस की धर्म-प्रणाली, पारसी धर्म, द्वैतवाद का सिद्धांत प्रतिपादित करता है: अहुरा-मज़्दा (न्याय-देवता) के नेतृत्व में *शुभ* तथा असहरिमन (अंग्रा मैन्यु, दुष्ट आत्मा) के नेतृत्व में *अशुभ* की शक्तियों के मध्य एक अनवरत् संघर्ष। इसी प्रकार भारतीय मिथक-शास्त्र में भी, देवों तथा असुरों के मध्य सर्वोच्चता-संघर्ष है। इन दो परस्पर विरोधी शक्तियों के संघर्ष में संसार शाश्वत् दोलन में है। *शुभ* तथा *अशुभ* के इस प्रभुत्व-संघर्ष में, *मनुष्य* एक माध्यम-भर है जिसके द्वारा ये दो शक्तियाँ कार्य करती हैं। किन्तु, मनुष्य अनादिकाल से, अपने भरणपोषण की संतुष्टि के क्रम में सदैव शुभ-शक्तियों को ही मान्यता देता तथा उनका पक्षधर रहा है।

शुभ तथा अशुभ एक सापेक्षिक शब्दावली अथवा मन की एक अवस्था होने के कारण यह जानना अत्यंत दिलचस्प है कि समाज की आवश्यकता बदलने के साथ ही मूल्य भी बदल जाते हैं। सिनेमा सदैव एक ऐसा माध्यम रहा है जिसके द्वारा समाज की रीतियाँ, रुचियाँ तथा प्रवृत्तियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं। आरंभिक हिन्दी फ़िल्मों में शुभ तथा अशुभ की संकल्पना सरल थी, नायक, एक सीधा-सादा तथा विवेकवान् व्यक्ति जबकि खलनायक एक अवसरवादी तथा स्वार्थी। उनके लक्षणों में एक स्पष्ट विभाजक-रेखा थी; हम एक को दूसरे के संदर्भ में समझ सकते थे।

जबसे मनुष्य ने सामुदायिक जीवन के लाभों को समझा, उसे *सामान्य शुभ* के लिए अपने वैयक्तिक अधिकारों की बलि देनी पड़ी। समुदाय के भीतर जो कुछ भी स्वीकृत हुआ वही *विधि*, सामान्य *शुभ* का आधार बन गया। कोई भी वस्तु जो कि नयी अथवा इसके विरुद्ध थी, उसे *अशुभ* कहा गया; और वे सदैव, बिना चूके विरोधित किये गये। मनोवैज्ञानिक हमें बताते हैं कि आने वाली किसी भी भिन्न वस्तु के प्रतिरोध की इच्छा, उस सबसे भिन्न जिससे कि हम पूर्व-परिचित हैं, हमारी निजी सुरक्षा से संबंधित भय से आती है। इस भय के कारण, परिवर्तन तथा प्रगति अक़सर प्रतिरोध तथा विरोध में पनपते हैं। मनुष्य में नये अनुभव से दूर रहने तथा भूत में शांतिपूर्वक पड़े रहने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। उसके अस्तित्व-प्रतिरूप की सीमा-रेखाएँ एक बार सुनिश्चित होने के पश्चात्, वह सामान्यतया अपने प्रयासों का अधिकांश, इसे इसकी रूपरेखाओं में किसी भी परिवर्तन के विरुद्ध संरक्षण तथा बचाव में व्यतीत करता है।









अब, यह व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है कि इतिहास प्रतिभाशाली पुरुषों एवं स्त्रियों के द्वारा निर्मित है, कुछ धर्मशास्त्रियों एवं रहस्यमय तत्व-मीमांसावादियों के अतिरिक्त, और नहीं नकारा जाता। जब ये *इतने साधारण नहीं* व्यक्ति, वर्तमान मानक अथवा *सामूहिक शुभत्व* से असंतुष्ट होते हैं, वे उन्हें परिवर्तित अथवा शोधित करने का प्रयास करते हैं। वे प्रतिरोधित होते हैं तथा समाज के लिए *अशुभ* घोषित होते हैं।

पर्दे पर भारतीय दुष्टगण, एकदम नीचे के.एन. सिंह से लेकर अजीत, रहमान, प्राण, प्रेमनाथ, प्रेम चोपड़ा, अमरीश पुरी, डैनी, अमजद ख़ान, सदाशिव आमरापुरकर इत्यादि सदैव नायक से भिन्न रहे हैं। ये वे व्यक्ति थे जो समाज द्वारा स्थापित मानकों पर खरे नहीं उतरते थे। ये वे लोग थे जिन्होंने अपने-आपको एक व्यक्ति के रूप में पहले तथा समुदाय के आज्ञार्थकों के रूप में बाद में देखा। वे अपने सहजीवियों के बीच *विषम व्यक्ति* थे। एकदम आरंभिक भारतीय खलनायक सरल थे तथा *नायक* के सन्दर्भ में समझे जा सकते थे। किन्तु अब, समय बदल रहा है और भारतीय पर्दे का बुरा आदमी एक जटिल व्यक्तित्व है, *जैक द रिपर* तथा कलकत्ता के *पत्थर-मार* जैसे लोगों को प्रतिबिम्बित करता हुआ। आरंभिक खलनायकों की तुलना में, ये बुरे, घृणित तथा *संकल्पवान* व्यक्ति हैं— ये जो कुछ भी करते हैं उसमें विश्वास रखते हैं यथा *एतबार, इन्साफ़ का तराज़ू* आदि में राज बब्बर। दूसरे छोर पर आज के नायक पारम्परिक मूल्यों के निष्कर्ष नहीं हैं। वे अपने भीतर थोड़ा

जंगलीपन लिये हैं— कुछ-कुछ शास्त्रीय खलनायकों के निकट— नायक के व्यक्ति
का अंधकार-पक्ष परिणाम स्वरूप कल के वर्षों के खलनायक और आज के नायक
को देखते समय दे ज़ा व्यू का एक आभास मिलता है। भारतीय सिनेमा के लम्बे
इतिहास में नायक और खलनायक के लक्षणों का विसरण है। जो कुछ खलनायक
का एकमात्र विशेषाधिकार समझा जाता था वह अव विभाजक रेखा को पार कर
चुका है तथा नायक के क्षेत्र अथवा लक्षणों में आ गया है, यथा भारतीय पर्दे पर
धूम्रपान की अवधारणा का क्रमशः विकास। यह सौम्य जयंत के अधरों से अभिताभ
बच्चन (**दीवार**, **खून-पसीना** आदि), जैकी श्रॉफ़ **त्रिदेव**, **हीरो** आदि) द्वारा अत्यंत
सुस्पष्ट रूप से मानवीयीकृत प्रति-नायकों के कठोर चेहरे पर स्थानांतरित हो गया है।
अभिताभ बच्चन, अनिल कपूर, जैकी श्राफ़ इत्यादि द्वारा निष्कर्षित प्रतिनायक की
अवधारणा, हमारे समाज के परिवर्तनशील मूल्यों का सीधा परिणाम है। ये *संत*
तुकाराम (1936) तथा *प्यासा* (1957) के सीधे-सादे एवं विनम्र नायकों से बहुत
दूर के स्वर हैं। पश्चिम से जम कर उधार जाने के बावजूद, यथा क्लिन्ट ईस्टवुड
की फ़िल्में इन फ़िल्मों ने सूक्ष्मतः हमारी रुचि के मिथकीय एवं सामाजिक कथानकों
से किसी पार्थिव तथा वर्तमान में अवस्थित वस्तु की ओर संक्रमण दर्शाया है। ये
फ़िल्में हमारे *व्यवस्था* के प्रति गहन असंतोष एवं उसके प्रति हमारे अवचेतन विरोध
का परिणाम हैं। एक प्रति नायक फ़िल्म का ज़ोर कथावस्तु की अपेक्षा व्यक्तियों पर
होता है। *प्रति-नायक* के संयुक्त का सबसे अधिक दिलचस्प पहलू यह है कि, यह
कुछ सीमा तक स्वयं दर्शक की अपनी रुचि, जीवन-शैली, नैतिकता तथा झेली गयी
स्थितियों के प्रति दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करने में सफल हुआ है।
हमारे इस तीव्र परिवर्तनशील समाज में मूल्य बहुत अधिक समय तक स्थिर नहीं
रहते । *शुभ* तथा अशुभ की अवधारणाएँ एक-दूसरे में इस प्रकार घुलमिल गयी
हैं कि हमारे पास जो विशुद्ध *खेत* तथा *श्याम* है, की एक धुँधली छवि बची है।
पहले हम जो एक नायक तथा एक खलनायक की अवधारणा है, में स्पष्ट रूप से
विभाजन कर सकते थे, किन्तु अब इन दोनों के बीच का क्षेत्र धूसरता की कई
छटाएँ लिये है जो कि *कला* अथवा *सिनेमा* की अपेक्षा जीवन के अधिक निकट है।
यह एक तार्किक तथ्य है कि अशुभ के बिना शुभ तथा इसके उलट, कुछ नहीं
है। अतः भारतीत सिनेमा में एक खलनायक की अवधारणा प्रकृति में भी सापेक्षिक
है। दूसरे अर्थ में भारतीय पर्दे का कोई खलनायक नहीं है, वह तो केवल हमारे
नायक के मूल्य द्वारा प्रस्तुत हमारे पारम्परिक मूल्यों के विरुद्ध एक अवधारणा है।
यदि ऐसा नहीं है, तो क्यों भारतीय खलनायक का भारतीय नायक में क्रमशः परिवर्तन
होता? (आठवें दशक के आरंभ की फ़िल्मों के खलनायक यथा प्राण, अजीत आदि
की तुलना में *तेज़ाब* में अनिल कपूर तथा *त्रिदेव* में जैकी श्रॉफ़)।

(अनुवादः सुरेश स्वप्निल)

गोपी पत्नी और तवायफ

चिदानंद दास गुप्त

प्रदर्शनकारी कलाओं में सिनेमा की स्थिति अर्धनारीश्वर की है, उसका दाहिना भाग है पुरुष और वाम भाग है नारी। पुरुष और नारी का संबंध वर्णनात्मक चलचित्रों में केन्द्रीय विषय-वस्तु रही है। विश्वभर में बनने वाली असंख्य फिल्मों में से बहुसंख्यक फ़िल्मों में भले ही वे किसी भी प्रदेश, धर्म और समाज की संस्कृति से संबंधित हो— यह विषय बिल्कुल सीधे आता है। चलचित्र की मूल तीन छबियों की जो त्रयी है— उसमें नायक, नायिका और दोनों साथ-साथ यही त्रयी हमारे सामने हैं। ये छबियाँ ही हमें ऊँचे आलीशान भवनों, सड़कों और रंगबिरंगी पत्रिकाओं में दिखती हैं— फ़िल्म के परदे पर तो वे दिखाई ही देती हैं; आधुनिक विश्व के सपनों की विषय-वस्तु भी वे हैं हीं। साबुन जैसी वस्तुओं को विज्ञापित करने वाले बड़े-बड़े बोर्डों पर अंकित छबियाँ, वस्त्र परिधानों को प्रगट करती रूपसियाँ सुगंधित द्रव्यों का प्रदर्शन करने वाली आकृतियाँ और स्वचालित वाहनों पर आसीन छबियाँ चलचित्र-जन्य छबियों के न केवल अनुरूप हैं, वरन् वे उनका विस्तार ही हैं। बहुधा चलचित्रों से ही उन्हें मूल प्रेरणा मिलती है और जनसामान्य की कल्पना में सिनेमा का जो प्रमाण है, उस पर ही ये छबियाँ निर्भर हैं। ऐसी ही मनोहारी छबि के रूप में अनीता एकवर्ग विज्ञापन बोर्ड से झाँकते हुए हमें दूध पीने का आहवान करती है जो **(लव इन दी सिटी-** 1953) के **अमोर इन सिट्टा** के प्रसंग का आदर्श हैं; इसमें माता और प्रिया और काम-प्रतीक को एक ही तत्व में गुंफित करके— आमलेट की भाँति सिनेमा में सदा प्रस्तुत किया जाता हैं और बार-बार उसे ही एक साथ बताया जाता है। वस्तुतः काम के बिना सिनेमा और क्या होगा?

नृतत्व विज्ञानी सदा से इस बात पर सहमत रहे हैं कि मानव सामाजिक संगठन कौटुंबिक सदस्यों के बीच आदिकाल से अगम्यागमन (संभोग-निषेध) का परिणाम है; पुरुष और नारी संबंधों को नियमित करने की दिशा में और इसे जागृत करने वाली इच्छा को नियंत्रित करने की दिशा में यह पहला और बहुत बुनियादी प्रयास था। "सबसे मौलिक धार्मिक अवधारणा स्त्री-पुरुष भेद को ही रेखांकित करती है। इसमें प्रत्येक अपनी दृष्टि से पूर्णतः सामान्य हैं किन्तु दोनों में संसर्ग होने से दोनों के लिए ही यह हानिकर है।"

धर्म संस्कृति का क्रियात्मक पक्ष है। जैविक परिवार को सामाजिक समूह के रूप में

एकीकृत किये बिना जटिल सामाजिक संगठन संभव नहीं था। अगम्यागमन-- जो सामाजिक इमारत और उसकी सहयोगी इकाइयों के लिए प्रमुख ख़तरा है, धार्मिक प्रतिबंधों के सक्रिय समर्थन के बिना उसका प्रभावी रूप से निषेध संभव नहीं था। इसीलिए किसी भी प्राचीन धर्म ने मानव काम-जीवन को व्यक्ति का निजी मामला नहीं माना। हिन्दू धर्म में तो संतानोत्पत्ति की दृष्टि से सहवास के लिए अनुकूल समय के विस्तृत नियम-विधानों का उल्लेख है जो पुराने चंद्र आधारित केलेन्डर का अनुपालन करने वाले वार्षिक पंचागों में दिये गये हैं। इस्लामी शरीयत कानून, नारी अधिकार के संबंधों को निर्धारित करने में और स्त्री-पुरुष संबंधों को निर्दिष्ट करने में राज्य को कोई अधिकार नहीं देता। इसी तरह ईसाई कैथोलिक विश्वास के अनुसार गर्भनिरोध के ख़िलाफ़ कठोर प्रतिबंध है। धर्म और काम इस प्रकार एक दूसरे से परंपरानुसार अविच्छिन्न रूप से जुड़े हैं जो आज मानव जीवन को परिचालित कर रहे हैं।

परंपरा से यहाँ अभिप्रेत उन जनविश्वासों और आस्थाओं से है जो किसी निश्चित समय और स्थान पर मनुष्य समूह द्वारा समझी और मानी जाती है और जो उस धर्म विशेष के द्वारा आरंभ से ही उत्तरोत्तर रूप में उन्हें प्रदान की जाती हैं, इसमें वैज्ञानिक प्रमाण द्वारा स्थापित ऐतिहासिक तथ्यों, साहित्यिक-मासिक, अथवा पुरातात्विक नृतत्व या ऐसी अन्य बातों का संबंध नहीं होता। इसीलिए औसत राजस्थानी हिन्दू का यह विश्वास है कि विधवा द्वारा स्वेच्छा से अग्नि-आहूति हिन्दू नारी के सर्वोच्च गुण की पारंपरिक अभिव्यक्ति है। दक्षिण भारत में ऐसी कोई परंपरा नहीं है और दक्षिण भारतीय सती के कृत्य में किसी हिन्दू गुण का मूर्त रूप नहीं देखते। इसी प्रकार वे परदा या घूंघट को भी नारी के शील का लक्षण नहीं मानते जबकि इसके विपरीत हिन्दी भाषी क्षेत्र में केशराशि में गजरा गूँथना वेश्या नारी का चिन्ह माना जाता है। इस प्रकार परंपरा की ऐसी बहुविध भिन्न-भिन्न धारणाओं के फलस्वरूप जो अपने साथ धर्म और काम के संबंध की विभिन्न अवधारणाओं को लेकर चलती हैं, प्रमुख रूप से अखिल भारतीय हिन्दी सिनेमा ऐसा आदर्श प्रस्तुत करता है जो सर्वसामान्यता के निकट हो और जिसमें यथासंभव व्यावसायिक सीमाओं के भीतर वर्णित वस्तु का व्यापकतम विक्रय संभव हो इसलिए वह हिन्दी भाषायी क्षेत्रों में जिन प्रचलित मूल्यों/ अवधारणाओं का प्रमुखता से प्रतिनिधित्व करता है वह हिन्दी क्षेत्र की हैं। और यह इस तथ्य के बावजूद प्रचलित है कि भाषा की दृष्टि से फ़िल्में काफ़ी व्यावहारिक हैं और इसीलिए वे शुद्ध हिन्दी को अपनाने की जगह हिन्दुस्तानी जबान का प्रयोग करती हैं।

इसके अलावा व्यापारिक लोकप्रियता इस बात पर ज़ोर देती है कि अंधविश्वासों और रूढ़ियों को जिसे संबंधित वस्तु के प्रयोगकर्ता चाहते हैं, उन्हें प्रिय मानते हैं उन्हें चुनौती देने की अपेक्षा पुष्ट और दोहराना ही चाहिए। पुष्टि संबंधी इस क्रिया से जनसामान्य को और चल चित्र की वस्तुओं के प्रयोगकर्ताओं को यह आश्वासन मिलता है कि उनकी धारणाएँ और विश्वास सही है और इससे उन्हें सिनेमा थियेटर द्वारा सुरक्षा की अनुभूति और सुख का अहसास होता है। इसमें सिनेमा जन-संचार के विविध माध्यमों की जनप्रियता की उस अवधारणा का समर्थन करता है जो वस्तु

की विक्रय-योग्यता से उसकी वैधता सिद्ध करने की कोशिश करता है। जनसंचार के किसी माध्यम में दर्शक/पाठक/श्रोता के विश्वास पर प्रश्नचिन्ह लगाना आर्थिक क्षति को निमंत्रण देना है क्योंकि इससे वस्तु के खरीददार के आत्मगौरव को आघात पहुँचा है— फिर भले ही वह सिनेमा टिकट हो या रंगबिरंगी पत्रिका। न्यूनाधिक परिमाण में यह बात सभी देशों के संचार माध्यमों पर लागू होती है वे चाहे विकसित देश हों या विकासशील देश — जिनका निरंतर अस्तित्व अथवा समृद्धि वस्तु की आर्थिक क्षमता पर निर्भर है। इस दृष्टि से किसी पश्चिमी देश की पत्रिका के लिए यह स्थिति सुखद नहीं होगी कि वह भारतवर्ष या तीसरी दुनिया के अन्य देशों के जनप्रिय विश्वासों को सुधारने की चेष्टा करे, उसके लिए सुरक्षित स्थिति यही होगी कि वह प्रचलित विश्वासों को ही परिपुष्ट करता रहे चाहे वे कितने ही ग़लत क्यों न हों और उपभोक्ता के अहं की ही तुष्टि करता रहे। केवल ज्ञानात्मक पुस्तकें और पत्रिकाएँ ही जिन्हें कुछ ही लोग पढ़ते है, जनविश्वास के प्रवाह के विपरीत राय व्यक्त करने की पात्र हैं क्योंकि वे उस पर प्रभाव नहीं डालतीं। लुई माल की भारतीय फ़िल्मों अथवा डोमिनिक नेपियर की पुस्तक **आनंद का शहर** की सफलता का रहस्य यह है कि वे औसत पश्चिमी व्यक्ति के द्वारा तीसरी दुनिया के निवासियों की आंतरिक-हीनता का ही औचित्य प्रतिपादित करते हैं।

इसके अतिरिक्त किसी समाज में किसी माध्यम के उपयोग का तरीक़ा उसके स्वामी की संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है जो उसके उपयोगकर्ता की रुचियों और दृष्टिकोणों से अलग होती है। आप केवल वहीं तो विचार सकते हैं और कह सकते हैं जिसके विचार करने और कहने की योग्यता आप में है। संगीत की धुन में ध्वनिवादक को वही धुन बजाने का आदेश तो केवल कोई व्यक्ति दे सकता है जो उस धुन को जानते है। यह बात आश्चर्य की होगी कि लोकप्रिय भारतीय फ़िल्मों के निर्माण में लगने वाला काला पैसा उन फ़िल्मों के रंग पर कोई छाप नहीं छोड़े। उन्नीस वर्षीया एक लड़की एक भवन की छत पर नल के पाइप के सहारे चढ़ जाती है और वहाँ से कूद कर आत्म-हत्या करती है क्योंकि वह अपनी सास की प्रताड़ना नहीं सह पाती। ऐसी दहेज-मृत्यु (जो वास्तव में आत्महत्या के लिए प्रेरित करती है) और दहेज-हत्याओं के संबंध में यह आरोप है कि वे मानव संबंधों को अति-नाटकीय बनाते हैं किन्तु फ़िल्म निर्माण की दृष्टि से ये अलोकप्रिय विषय हैं। इसी प्रकार अन्तर्समुदायों के बीच संबंध जैसे हिन्दू पुरुष और महिला के साथ मुस्लिम पुरुष और महिला के संबंधों को या ब्राह्मण और हरिजन के संबंधों के प्रसंग हैं जो गुजराती **भवाई** और अन्य कई लोक नाट्यों में पर्याप्त लोकप्रिय हैं। यदि कभी ऐसी फ़िल्म एकाधबार बना भी ली जाती है तो फ़िल्म उद्योग के शक्ति केन्द्रों द्वारा यह बता दिया जाता है कि इसका बहुत अधिक प्रसार न किया जाये। ऐसा ही मामला एम.एस. सत्थ्यू की फ़िल्म **ग़रम हवा** के साथ हुआ यद्यपि वह मुसलमानों की आन्तरिक समस्याओं से संबंधित थी और उसकी प्रेमकथा का हिन्दुओं से कुछ लेना देना नहीं था। वह एक मर्मस्पर्शी अच्छी तरह बनायी गयी फ़िल्म थी। केवल यह बात की वह मुस्लिम समाज की दुर्दशा का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण करती है—

इसके लिए काफ़ी थी कि फ़िल्मोद्योग के मालिक उसकी आवाज़ बन्द करने में तत्पर हो गये। उनकी शक्ति का प्रमाण इसी से मिलता है कि ऐसे विशिष्ट विषय फ़िल्मों में अनुपस्थित रहते हैं और चुप्पी साध लेने का षड्यंत्र और एक आन्तरिक निजी सेंसरशिप लग जाती है — बावजूद इसके कि इन कहानियों में नाटकीय सामर्थ्य काफ़ी होती है और फ़िल्म बनाने के लिए इनकी उपयोगिता भी असंदिग्ध है। यदि प्रमाण देने की आवश्यकता हो तो यह बात साबित करती है कि लोकप्रिय फ़िल्मों में प्रमुख रूप से उस संस्कृति की प्रधानता है जो उत्तर भारत की हिन्दी-हिन्दू युक्त संस्कृति है।

1982 में, मेरठ शहर की आशा नामक एक लड़की अपने घर से भागकर दिल्ली आ गयी क्योंकि उसके घर वाले अभिभावकजन और भाई उसे इस बात के लिए दबा रहे थे कि वह विवाह कर ले जबकि वह अपनी पढ़ाई ज़ारी रखना चाहती थी और आत्मनिर्भर बनना चाहती थी। मनु महाराज के अनुगामी इस परिवार के लोग इस विचार मात्र से ही भयभीत थे कि परिवार की कोई लड़की बिना अभिभावकों के साथ अकेली रहकर अपनी जीविका स्वयं अर्जित करे — जिसे वह मर्यादारहित कार्य मानते थे। दिल्ली आकर आशा किसी भाँति नारी संगठन—सहेली में आ पहुँची जिसने उसके रहने की व्यवस्था कर दी और उसके लिए नौकरी की भी व्यवस्था कर दी। इस लड़की के भाई उसकी तलाश करते हुए दिल्ली आ पहुँचे और उसके शुभचिंतकों के यहाँ उसे खोज लिया। उन्होंने सहेली के स्वयं सेवकों से अपनी बहन का पता पूछा और जब उन्होंने नहीं बताया तो उनके साथ दुर्व्यवहार किया। पुलिस ने भी इस लड़की के भाइयों का ही पक्ष लिया और सहेली की नारियों पर उसके अपहरण का और वहाँ वेश्यावृत्ति कराने का आरोप लगाया। सहेली की स्वयं सेविकाएँ मिलकर पुलिस थाने में इस बात की रिपोर्ट लिखाने गयी किन्तु पुलिस थानेदार ने अपने कनिष्ठ सहयोगियों का ही समर्थन किया। इस मामले में एक पत्रकार के बाल पकड़कर उसे घसीटा गया और ग़ैरकानूनी रूप से थाने में बन्द कर दिया। इस मामले की राष्ट्रीय अख़बारों में बहुत चर्चा हुई।। पचास महिलाओं ने मिलकर पुलिस थाने के सामने अपना विरोध प्रकट किया और सहेली की वरिष्ठ सदस्याएँ उच्चअधिकारियों और नेताओं से मिली फिर जाँच का आदेश दिया गया। थानेदार का तबादला किया गया, सब इन्सपेक्टर के ख़िलाफ़ जाँच हुई। "हमें महसूस हुआ कि वरिष्ठ अधिकारी इस घटना के लिए अधिक उत्तरदायी है, इसलिए हमने इस मामले पर अपना पक्ष रखा। हम या तो दोनों के ख़िलाफ़ गवाही देंगे या फिर गवाही ही नहीं देंगे। आशा की माँ ने सर्वोच्च न्यायलय में बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका लगाई। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य-न्यायाधीश ने अपना फ़ैसला सुनाते हुए कहा कि आशा वयस्क नागरिक है उसे यह पूरा अधिकार है कि वह अपने जीवन को किस प्रकार बिताये और कहाँ रहे।

आशा की कहानी भारतीय संविधान और बहुसंख्यक भारतीय समाज के पारंपरिक दृष्टिकोण के बीच समाज में नारी की स्थिति के संबंध में चल रहे संघर्ष को रेखांकित करती है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इस अत्यन्त नाटकीय कहानी (और इस तरह की असंख्य कहानियों की) यदि फ़िल्म बनाई जाये तो

तो भारतीय लोकप्रिय सिनेमा की सहानुभूति किधर होगी। स्पष्टतः वह मनु महाराज की राय के पक्ष में ही होगी (दूसरी शताब्दी के हिन्दू मत के भाष्यकार जो पितृ सत्तात्मकता और नारी जाति पर पुरुष के समग्र प्रभुत्व के पक्ष-धर थे। दूसरी ओर, तथाकथित *नया* या गंभीर सिनेमा जो फ़िल्म उद्योग में साहसिक प्रयोग के समानांतर ऊँची कला का समर्थक है, निश्चय ही अपना समर्थन इस लड़की या संविधान के पक्ष में रखता।

भारतीय सिनेमा में यह समस्या इस प्रश्न के बाहर जाती है कि हमें विवाद-ग्रस्त बातों से बचना चाहिए अथवा इस सामग्री से कितना अधिक पैसा कमाया जा सकता है। यदि नाम ही इस संबंध में केवल विचारणीय तत्व होता तो हिन्दी फ़िल्मों का फ़ार्मूला इस समय की तुलना में बहुत अधिक तेज़ी से और तात्विक रूप से बदल जाता कि प्रतिवर्ष बहुसंख्यक फ़िल्में बॉक्स आफिस पर असफल हो जाती हैं।

फ़ैशन कला या इत्रादि सुगंधित द्रव्यों के व्यापार में जहाँ निश्चितता कोई जटिल नहीं है, ऐसी स्थिति में बाज़ार संबंधी शोध कार्य निश्चित रूप से उस वस्तु के संबंध में निश्चिय ही विचित्र स्थिति पैदा कर देते जब तक कि बाज़ार में उन वस्तुओं की उपयोगिता निरपवाद न हो जाये। इसी के परिणामस्वरूप — इस एक फ़ार्मूले से बार-बार ग़लतियाँ होती है जब तक कि कोई वस्तु हिट नहीं हो जाती और इस दिशा में असफलताओं की भगदड़ मच जाती है। लोकप्रिय सिनेमा की निर्माण प्रक्रिया-तंत्र के अंतर्गत शिक्षा और संस्कृति का अन्तर एम.बी.ए. से बहुत नीचे रहता है जो आज के उद्योगों पर राज्य करता है। सिनेमा वस्तुतः संगठित सेक्टर का पूरी तरह एक अंग नहीं है। उसकी पूँजी बैंकों अथवा सार्वजनिक संस्थाओं से नहीं मिलती, वह अधिकांशतः ग़ैर कानूनी कार्यों जैसे कालाबाज़ारी अथवा स्मगलिंग अथवा नशीले पदार्थों की बिक्री अथवा कर चोरी से संचित राशि होती है।

अपनी भाषा के कारण हिन्दी सिनेमा पर हिन्दी बोलने वाले क्षेत्र की संस्कृति का प्रभाव है, जो आधुनिक भारत के मान से अंधभाव से परंपराग्रस्त है और शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ा है (विशेषतः महिला शिक्षा की दृष्टि से 1981 की जनगणना की दृष्टि से उत्तर प्रदेश में महिला शिक्षा का प्रतिशत 14 था जबकि मिजोरम में यही प्रतिशत 50 था) दहेज हत्याएँ और अन्य अपराधों— विशेषकर यौन अपराधों का प्रतिशत तुलनात्मक रूप से अधिक है। दूसरे शब्दों में हिन्दी फ़िल्मों की आज की लोकप्रियता का निहितार्थ यह है कि एक पिछड़ी संस्कृति के दृष्टिकोण को वह अधिक उन्नत संस्कृति वाले प्रदेशों पर महाराष्ट्र अथवा गुजरात बंगाल अथवा केरल पर थोपना चाहती है।

तब इस बात में कोई आश्चर्य नहीं है कि महिलाओं की स्थिति और स्त्री-पुरुष संबंधों के बारे में लोकप्रिय हिन्दी फ़िल्में आधुनिक दृष्टिकोण के बजाय परंपरा का ही सहारा लेती हैं और यह भी वास्तविकता है कि वे संविधान में दिये गये नारी स्वातंत्र्य और वैवाहिक स्वतंत्रता के अधिकार के ख़िलाफ़ प्रतीत होती हैं।

1980 की एक बहुत सफल फ़िल्म, जो 1981 में भी बहुत अच्छी चली, बी.आर. चोपड़ा की **इंसाफ़ का तराज़ू** थी। चोपड़ा साहब देश के फ़िल्म निर्माताओं की

उस पीढ़ी के व्यक्ति हैं जिन्हें अनेक सफल फ़िल्में लगातार बनाने का श्रेय मिलता रहा है। बाद में वे महाभारत के टी.वी. संस्करण के निर्माता के रूप में बहुत प्रसिद्ध हुए। **इंसाफ़ का तराज़ू** की नायिका भारतीय पुरानी कामपुतली जीनत अमान थी। इस फ़िल्म में उसने एक मॉडल की भूमिका का निर्वाह किया है इसलिए प्रायः वह कम वस्त्रों में ही दिखाई देती है। वह ऐसे व्यक्ति से प्रेम करती है जो उससे यदि संभव हुआ तो विवाह करेगा। किन्तु विवाह बँधन में बंधने के काफ़ी पहले उस पर एक प्रभावशाली व्यक्ति द्वारा बलात्कार कर दिया जाता है। यह व्यक्ति उससे इसलिए चिढ़ गया था क्योंकि उसने उसके साथ सहवास करने से मना कर दिया था। इसके बाद ही उसकी छोटी बहन पर बलात्कार कर दिया जाता है। एक अँधेरी शाम को जब यह नारी देर तक अपने कार्यालय में काम कर रही थी, उस आदमी ने फिर यह दुष्कृत्य किया जिसे पार्श्व भूमि में मेघ गर्जन और बिजली की गड़गड़ाहट से प्रदर्शित किया गया। जीनत दोनों बार न्यायालय जाती है। वह अपना केस हार जाती है लेकिन अपनी छोटी बहन का केस जीत जाती है। बी.आर. चोपड़ा ने ज़ोर देकर यह दावा किया था कि उन्होंने नारी अधिकारों के प्रबल समर्थन में इस फ़िल्म का निर्माण किया था। किन्तु फ़िल्म के कुछ संवाद उसके अभिप्राय पर दिलचस्प रोशनी डालते हैं। बड़ी बहन के बलात्कार के बाद उसका प्रेमी उसे घुमाने ले जाता है और मंद स्वर में उससे कहता है कि वह उससे अब भी प्रेम करता है और बलात्कार के बावजूद उससे शादी करने का इच्छुक है किन्तु वह कहती है:

नारी — मैं अब पाक नहीं हूँ

पुरुष — यदि कोई दर्पण को कुचलकर उसे फोड़ देता है तो क्या इसमें दर्पण का दोष है?

नारी — नहीं, लेकिन फिर तुम दर्पण में अपना चेहरा नहीं देख सकते।

पुरुष — मेरा ख़याल है कि मन की पवित्रता शरीर की पवित्रता से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है।

नारी — नहीं, स्त्री के लिए मन की पवित्रता की अपेक्षा शरीर की पवित्रता अधिक महत्वपूर्ण है।

ज़िरह के दौरान प्रतिवादी का वकील उससे कहता है कि वह सार्वजनिक रूप से अपने ऊपर बलात्कार किये जाने का उल्लेख करने पर शर्मिन्दा क्यों नहीं है जबकि कोई भी भली स्त्री इसके लिए शर्मिंदगी महसूस करेगी। यह ऐसा कथन है जो फ़िल्म में दूसरों द्वारा भी प्रतिध्वनित हुआ है, उसकी बहन ने भी कहा है। जिन दृश्यों में जीनत की तस्वीर एक मॉडल के रूप में ली जा रही है, उसे भाँति-भाँति के साहसिक वस्त्रों में कामोत्तेजक मुद्राओं में प्रदर्शित किया गया है। जनसमाज को इस दृष्टि से यह धारणा बनाने के लिए सहारा मिलता है कि जो नारी अपने अभिभावकों के बिना, स्वयं अपनी इच्छा से समाज के बीच में न रहकर अलग-थलग रहकर अपवित्र जीवन बिता रही है जैसा कि आशा नामक लड़की के भाइयों ने अपनी बहन को वास्तविक जीवन में माना था। एक दूसरा निष्कर्ष यह निकाला गया कि चूँकि वह वेश्या जैसी थी (जैसा कि उसके वस्त्र परिधानों से प्रकट होता था और जिस तरह अर्धवस्त्रित अवस्था में उसकी तस्वीरें ली जाती रही हैं तो ऐसी नारी पर अगर बलात्कार हुआ तो क्या हो गया? एक अन्य विचार जो

मन में घर तक जाता है कि नारी के लिए यही उचित है कि वह बलात्कार का दुर्भाग्य सह ले और अपनी शर्म छिपा ले बनिस्बत इसके कि वह न्यायालय जाकर इस कुकर्म का भंडाफोड़ करे जिसे ग़ैर-पारंपरिक या आधुनिक जीवन शैली का एक नया दृष्टिकोण माना गया। इसमें बलात्कृत नारी के पुनर्वास की समस्या पर कोई विचार करना ही आवश्यक नहीं माना गया क्योंकि नारी के शरीर की शुचिता को उसके मन की तुलना में अधिक महत्व दिया गया। आत्म त्याग के अपने इस प्रसंग में **इंसाफ़ का तराज़ू** की नायिका जीनत अमान तुलसीदास के रामचरित मानस की सीता जैसा ही उदाहरण प्रस्तुत करती है। वाल्मीकि की सीता का श्रीराम इसलिए परित्याग कर देते हैं कि क्योंकि उनकी प्रजा ने उसकी देह की पवित्रता पर लाँछन लगाया था। अयोध्या लौटने के बाद ही श्रीराम ने अपने सामने बुलाया और अशिष्टतापूर्वक उनसे कहा कि रावण के ख़िलाफ़ उन्होंने यह भीषण और लम्बी लड़ाई उसे (सीता को) प्राप्त करने के लिए नहीं लड़ी थी वरन् अपने सुप्रसिद्ध वंश की *गौरव* रक्षा के लिए लड़ी थी। उन्हें इस बात का कोई अहसास नहीं था कि रावण के यहाँ रहने पर उसके साथ क्या हुआ किन्तु अब सीता के लिए उनके पास कोई समय नहीं था। महाभारत की संक्षिप्त कथा में रामायण का जो संदर्भ है उसमें राम ने इसकी तुलना घी से की है जिसे कुत्ते के द्वारा जूठा कर दिया गया था। उन्होंने सीता से कहा कि वह जिसके साथ चाहे उसके पास जा सकती है— वह अपने साथ लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न (श्री राम के अतिप्रिय भाई) को ले जा सकती है अथवा वानर राज सुग्रीव या राक्षस विभीषण को ले जा सकती है किन्तु सीता इस सब के उत्तर में बड़ी प्रखर बात कहती है कि वह सुप्रसिद्ध राजकन्या है, राजा जनक की कन्या है और ऐसी अपमानजनक भाषा में उससे बात नहीं की जा सकती। सुप्रसिद्ध रघुकुलके वंशज के रूप में राम को अपने इस व्यवहार पर लज्जित होना चाहिए। राम द्वारा सीता के साथ किये गये इस अन्यायपूर्ण दुर्व्यवहार की आलोचना परवर्ती नाटककारों और कवियों भवभूति और भर्तृहरि ने की — तब तक राम भगवान नहीं बने थे। तुलसीदास के काल तक — राम को देवत्व पद से विभूषित कर दिया गया था — जो दसवीं सदी से आरंभ होकर तब तक पूर्णता को पहुँच चुका था। तो तुलसीदास मूल महाकाव्य के प्रमाण को समाप्त करने के लिए क्या करते हैं? वे सीता के मुँह से यह कहलवाते हैं कि उसे निर्वासन ने दिया जाये क्योंकि उनके अनुसार राम का प्रथम कर्तव्य रघुकुल की प्रतिष्ठा की रक्षा करना है। क्या उन्होंने वास्तव में रावण के यहाँ रहकर पाप किया था — यह बात महत्वहीन थी (वाल्मीकि के अनुसार उन्होंने कोई पाप नहीं किया था, रावण उन्हें चाहता था किन्तु उनकी इच्छा के विपरीत नहीं। महत्वपूर्ण बात यह है कि वह राम की प्रजा के द्वारा अपवित्र मानी गयीं। तुलसीदास के इसी अभिप्राय को रामानंद सागर ने अपनाकर अपने रामायण प्रसंगों में दूरदर्शन पर प्रस्तुत किया।

हिन्दू धर्म विश्व में एकमात्र ऐसा धर्म है जो किसी नारी को किसी परपुरुष द्वारा स्पर्श किये जाने पर विवाह के अयोग्य अथवा पुनर्विवाह के अयोग्य मानता है। यह विचार कि दूसरे के द्वारा स्पर्श किया गया भोजन अपवित्र हो जाता है विस्तृत कर

नारी तक पर लागू कर दिया गया मानो नारी एक प्रकार का भोजन है जिसका
सेवन केवल शुद्ध स्थिति में ही किया जा सकता है। किसी ब्राह्मण के भोजन पर
यदि किसी मुसलमान या अछूत की छाया से जैसे भोजन अपवित्र हो जाता है, वैसे
ही यदि किसी नारी पर परपुरुष की छाया पड़ जाये तो वह अपवित्र मानी जाती
है। इस प्रकार पौराणिक हिन्दूधर्म किसी विधवा के लिए सबसे पवित्र मार्ग आत्म-दाह
मानता है जो देहावसान के बाद दूसरा सर्वोत्तम उपाय है। किसी भी दशा में कोई
विधवा अथवा नारी जिसका परित्याग उसके पति द्वारा किया गया हो, अपना पुनर्विवाह
नहीं कर सकती। नारी के पुनर्विवाह का संपूर्ण विचार ही हिन्दू धर्म के प्रतिकूल
है। परपुरुष द्वारा स्पर्श की गयी नारी जूठी है, ज़हरीले भोजन की भाँति है। पितृसत्ता
की भाँति कठोर होने के बावजूद इस्लाम नारी के पुनर्विवाह में किसी प्रकार की
अपवित्रता नहीं देखता जैसे कि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा भोजन का स्पर्श होने पर
वह उसे खाने के लिए निषिद्ध नहीं मानता यहूदी और ईसाई धर्म इस बात की
सहमति नहीं देते कि एक ही प्लेट में रखा भोजन सब लोग एक साथ मिलकर
खाएँ जैसा कि इस्लाम के अनुयायी मानते हैं किन्तु वे यह भी नहीं मानते कि ऐसा
भोजन दूषित हो जाता है; न ही वे यह मानते हैं कि पर-पुरुष का स्पर्श हो जाने
वाली नारी दूसरे व्यक्ति के लिए विवाह संदर्भ में अयोग्य हो जाती है। मध्यकालीन
हिन्दू धर्म (बारहवीं सदी के बाद का काल भारतीय इतिहास काँग्रेस की परिभाषा
के अनुसार) ने समाज में नारी की स्थिति को बड़ी तेज़ी से गिराया — नारी की
यह पतित स्थिति परवर्ती क्लैसिकल काल में नहीं थी — 650 ई. से 1200 ई.
या उसके पहले। यद्यपि आरंभिक वैदिक काल में महादेवी की पूजा और कांस्य युग
(भारत में सिन्धु घाटी सभ्यता, चीन में शक्तिशाली राजवंश और मिस्र में हायकोस
युग आदि-आदि) का क्रम भंग हो गया था किन्तु नारी के सभी अधिकार एक
साथ समाप्त नहीं हुए थे। ऋग्वेद में नारी यज्ञ-यज्ञादि कार्यों में भाग लेने की पात्र
थी, मंत्रादि की रचना करने की सीमा तक स्वयं को शिक्षित कर सकती थी (लोपा
मुद्रा, अपाला, विश्ववारा, घोषा, सावित्री, वाक्, इंद्राणी आदि ऋग्वेद के सूक्तों की
रचयिता थीं) इच्छानुसार व्यक्ति से विवाह करने के लिए स्वतंत्र थीं (स्वयंवर) और
अपने पति की मृत्यु के पश्चात पुनर्विवाह कर सकती थीं अथवा आजीवन अविवाहित
रहकर अपने पिता की संपत्ति के उपभोग की अधिकारिणी थीं) ऋग्वेद के अठारह
सूक्तों से तो (10/95/1-18) जिसमें पुरुरवा और उर्वशी के बीच संवाद हैं, विद्वान
आश्चर्य में पड़ जाते हैं और उनकी जिज्ञासा शांत नहीं होती। राजा पुरुरवा के
साथ धरती पर चार वर्ष बिताने के बाद गंधर्वलोक की अप्सरा उर्वशी अपने पति
की उसके साथ रहने की याचना की अवहेलना कर चली जाती है। उर्वशी कहती
है— "ऊषा की पहली किरण की भाँति मेरा आगमन हुआ है, जैसे कोई वायु को
नहीं पकड़ सकता उसी प्रकार तुम भी मुझे बँधन में नहीं बाँध सकते।" अपना
परित्याग किये जाने पर पुरुरवा प्रार्थना करता है कि उसका विनाश शीघ्र हो जाये
और शक्तिशाली भेड़िये उसे अपना खाद्य बना लें। उर्वशी उसे सांत्वना
प्रदान करते हुए कहती है "नारी का प्रेम सनातन नहीं है

भाँति है।'' अन्त में वे पुरुरवा को आश्वासन देती है कि उसे स्वर्ग में परमानंद की अनुभूति होगी। आचार्य डी.डी. कोशाम्बी का कथन है कि इस सूक्त में महादेवी के समक्ष मानव बलि का प्रबल संकेत मिलता है। पुरुरवा के यह कहने के बाद कि भेड़िये उसके शरीर को भोजन बनायेंगे नारी हृदय की तुलना भेड़िये से करने से, उर्वशी उसके सन्देह को ही निर्मूल करती है। वह इस बात के लिए आश्वस्त करती है कि इस पृथ्वी पर सदा समृद्धि नहीं है वरन् परमानंद तो स्वर्ग में ही है जो कि मृत्यु के बाद ही संभव है। उर्वशी स्वयं को ऊषा की पहली प्रमुख अधिकारिणी मानती है जो नारी प्रधान समाज में महादेवियों की एक शृंखला है जो किन्हीं पुरुषों के साथ इच्छानुसार स्वच्छंद विहार कर सकती थीं और उनकी बलि भी माँग सकतीं थी।'' पुरुरवा की बलि पुत्र को जन्म देने के बाद और उर्वशी को उत्तराधिकारी देने के बाद अवश्यंभावी है, उर्वशी के दृढ़ निश्चय के सामने इसीलिए पुरुरवा की याचना निष्फल जाती है। पुरुष प्रधान (देवता, राजा) की इस बलि (का घनिष्ठ संबंध उर्वरता संबंधी कर्मकांड से है।'' गुह्य सम्प्रदायों का विकास पृथ्वी की उर्वरता की क्षीणता की परिकल्पना के चतुर्दिक और उसे निरंतर पुनर्जीवन प्रदान करने की महती आवश्यकता को लेकर हुआ है....इसीलिए पुरुष प्रमुख की बलि का विधान है (अत्तिस, ओसिरीस अडोनिस, डायनोसिस, तामूज का उदाहरण) जिनके रुधिर से पृथ्वी की प्यास बुझती है और पृथ्वी माता की कोख भरती है, यह प्रजनन संबंधी सार्वभौमिक सिद्धान्त है जिसमें दूसरी बार जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन है। संभवतः यह अतीत को स्मरण करने का उदाहरण हो जिसमें किंचित भय के साथ ऋग्वेद के सूक्तों में पुरुरवा और उर्वशी का आख्यान दिया गया हो— ऐसे समय में जब पितृ-सत्तात्मकता की ओर झुकाव आरंभ हो गया था। महाकाव्यों के काल तक जिसका आरंभ 500 ई.पू. से लगभग 400 ई. तक चलता रहता है) बहुपतित्वप्रथा जो नारी प्रधान मातृसत्तात्मक समाज में प्रचलित थी, अब अवाँछनीय मानी जाने लगी। अतः यह उदाहरण अपवाद स्वरूप है— यद्यपि यह अभी भी स्वीकार्य था जो हमें महाभारत में पाँच पतियों वाली द्रोपदी में मिलता है। समूचे वैदिक और परवर्ती वैदिक काव्य में नारियों की स्थिति में क्रमशः ह्रास होने लगा था। पहले उसने यज्ञ किया में शामिल होने का अधिकार खोया, फिर दीक्षा का और बाद में पुनर्विवाह का भी अधिकार खोया बावजूद इसके, दूसरी शताब्दी ईस्वी में मनु के निर्देशों में जो अभिव्यक्त किया गया है, वह वास्तव में समाज में विद्यमान नहीं था और उसका अभिप्राय यह था कि वे आदर्श किसे मानते हैं। ईसा युग की आरंभिक शताब्दियों में, गुप्त युग में और उसके बाद भी, हम स्वयंवर प्रथा का अस्तित्व देखते हैं जो विवाह के संबंध में नारी स्वातंत्र्य का उदाहरण है इसी प्रकार नारी द्वारा पति परित्याग का अधिकार भी उस काल में विद्यमान था। विवाह के संबंध में नारी की आयु भी अधिक थी। यहाँ तक कि परवर्ती क्लैसिकल युग में भी हमें राजनीति, ज्ञान और कविता के क्षेत्र में अनेक नारियों की सक्रिय उपस्थिति दिखती है।

इस बात के प्रचुर प्रमाण हैं कि नारी और पुरुष का परस्पर मेल मिलाप अपेक्षाकृत अपराध भावना से मुक्त था, विशेष रूप से समारोह के अवसरों पर और रूपजीवाओं

और देवदासियों की भूमिका शास्त्रीय (क्लैसिकल) और परवर्ती शास्त्रीय युग में महत्वपूर्ण और आदरणीय मानी जाती थी। सोमनाथ के मंदिर में 500 देवदासियां थीं। जीवन के एक अनिवार्य और रचनात्मक पक्ष के रूप में *काम* का स्थान मंदिरों में था— यह परम्परा हिन्दू राज्यों में लगभग पंद्रहवीं शताब्दी तक चलती रही। परदा प्रथा अधिकांशतः धनाढ्य विवाहित नारियों के बीच प्रचलित थी जो सामाजिक विशेषता अथवा लोगों की निगाहों से अपने बचाने की दृष्टि से अधिक थी बजाय उनके ऊपर एक प्रतिबंध के राजपरिवारों की महिलाएँ राज कचहरियों में बिना परदों के ही जाती थीं और स्मृतिकार मनु के निर्देश बहुत धीरे-धीरे अपना प्रभाव जमा रहे थे किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिल रही थी। इस्लाम के आगमन तक यह स्थिति ज़ारी रही। काम चित्रण में और उसके संबंध में चर्चा करने पर एक अति नैतिकतावादी आग्रह का प्रवेश हो गया था, नारी को घर की चारदीवारी और परदे में सीमित कर दिया था, पत्नी (पुत्र की माँ) अब तवायफ़ से भिन्न थी।
सीता के रूप में तुलसीदास ने नारी की जो छवि अंकित की थी — वह पवित्र और पुरुष प्रभाव के अधीन होने वाली नारी की छवि थी जिसके जीवन का प्रयोजन मात्र अपने पति और बालकों का कल्याण संवर्धन था, अपने बारे में उसका कोई सोच ही नहीं था, न ही परिवार से इतर कार्यकलापों के संबंध में इसका कोई योगदान था— और यह सदियों तक व्याप्त तुर्क और मुगल साम्राज्य का परिणाम था। एक विदेशी धर्म के प्रभाव से ग्रस्त और अस्तित्व रक्षा की दृष्टि से उसके साथ शान्ति रखने के लिए विवश, हिन्दू मस्तिष्क उसके साथ बिना अपना स्वाभिमान खोये सामान्य आधार क़ायम रखना चाहता था और उसके अनुसार व्यवहार करना चाहता था। इस्लाम की संपूर्ण पितृसत्तात्मकता का प्रवेश यहाँ तभी हो सकता था जब वह भारतीय परम्परा के किसी तत्व से अनुस्यूत होकर आये। ऐसी स्थिति में मनु की संहिता से अधिक उपयोगी और क्या हो सकता था? नारी की क्रमशः ह्रासमान स्थिति की भारतीय कहानी सभ्यता के इतिहास में उल्लिखित विश्व आन्दोलन का ही एक भाग है। पेड़ पौधे वाली अर्थव्यवस्था के युग में (जो ज़मीन के ऊपरी भाग को साधारणतः खुरचकर पेड़ पौधे लगाने पर आधारित थी) नारियाँ मुख्यतः अनाज उत्पादक थी, यह स्थिति पलटकर पुरुष के पक्ष में हो गयी जब लौह युग में गहरी खुदाई का युग शुरू हुआ। तब तक जिन देवताओं की पूजा प्रचलित थी वे सब मातृदेवियाँ थीं। पुरुष प्रभाव के आविर्भाव के बाद पुरुष रूपी देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ। उदाहरणार्थ मिस्र में होमर नामक देवी, जो अपनी धनुषाकार देहयष्टि से आकाश का छत्र सा बनाती थी, और जिसके पैर ज़मीन पर *आश्रित* थे, के स्थान पर सूर्य देवता आसीन हो गये।
सेमीटिक बेबीलोनियन्स में, सूर्य देवता मरडाक ने तियामत के ऊपर आरूढ़ हो गये — नियामत मातृदेवी है जिनके संबंध में धारणा है कि उनके शरीर से संसार का जन्म हुआ। सर्प जिसे भारत और अन्य बहुत से प्राचीन देशों में चक्रीय उर्वरता के रूप में पूजा जाता है क्योंकि अपनी केंचुल छोड़कर वह अपने शरीर को नया धारण कर लेता है, अनिष्टकारी साँप [illegible]

ललचाकर ईडन के बाग से *आडम* का पतन कराया।

इसी प्रकार एक मात्र जन्मदायिनी के रूप में नारी की अवधारणा ने पुरुष की महत्ता का मार्ग प्रशस्त किया और उसे फलवती करने और गर्भधारण करने योग्य बनाने में पुरुष का अहसास जगाया। इस अनुभव के फलस्वरूप पुरुष के प्रकृति और नारी के साथ साहचर्य का संबंध बदल गया, जो अभी तक एकाकार थे। रचने की क्षमता जो नारी के गर्भ में होती है, मिथकीय धारणा के अनुसार गर्भ से बदलकर (कमलासीन देवी, पद्म भारत में) विष्णु की नाभि में अथवा मस्तिष्क में (जियस के सिर से निकलती हुई एथीन) आ गयी। सूर्य ने चंद्रमा का स्थान ले लिया। विशालतर यूरेन्यिन स्टेपीज और अरब मरुस्थलों के स्थान पर पशुपालक बद्दू जीवन शैली का समर्थन किया गया और पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण के रूप में एक हिंसक अपकेन्द्रिकता का प्रसार हुआ जबकि कृषिप्रधान, बागवानी वाली संस्कृतियाँ मध्यपूर्व और भारत में फलीफूली और उन्होंने महादेवी के रूप में मातृदेवी के विशिष्ट केन्द्रीयकृत दृष्टिकोण का ही समर्थन किया। इन दोनों सिद्धान्तों के बीच भौतिक संघर्ष जो बड़े आक्रमणों के रूप में सामने आया और इसी के समानुरूप अपकेन्द्रिक पितृसत्ता द्वारा बसाहटों वाली शांतिपूर्ण केन्द्राभिमुख संस्कृतियों के तत्वों को क्षति पहुँचाई ऐतिहासिक दृष्टि से यह आक्रमण विनाशकारी और निर्णायक सिद्ध हुआ.... लौह उपयोग करने वालों, अश्वारोहियों और रथारूढ़ असभ्य जातियों के असंख्य आक्रमणों द्वारा एक प्रकार के अधिकारपूर्ण युग का सूत्रपात हुआ।

भारत में इस अपकेन्द्रीय आन्दोलन का प्रतिनिधित्व आर्यों के परसिया और सिंधु घाटी के आक्रमण (एक विवादित सिद्धांत जो आज भी विवाद के घेरे में है) इसी के समान डोरियन्स का क्रेटे पर आक्रमण, कैसियन्स का मेसोपोटामिया पर, हूरियहनस का सीरिया, फिरीजिन्स का एशिया माइनर, तुर्क और मंगोलों का चीन पर आक्रमण — सभी लगभग एक ही समय पर हुए और ये सभी सत्रहवीं और चौदहवीं सदी ई.पू. के बीच हुए। इन सभी क्षेत्रों में भारत सहित एक अंधकारपूर्ण युग आया जिसमें पुरातात्विक अवशेष और सभ्यता के अन्य उदाहरण समाप्त हो गये। तथापि इस युग में पुरुषों द्वारा विपुल बौद्धिक कार्य व्यापार हुआ और भारत में बहुत उच्च कोटि के मीमांसात्मक विचारों का उदय उपनिषदों के रूप में हुआ और इसके बाद बौद्ध दर्शन हमारे सामने आया। निसर्गोन्मुख महादेवी की पौराणिक काव्यात्मक विचारशैली के स्थान पर अब एक नैतिक, विवेक सम्मत जिज्ञासा प्रकट की जा रही थी जो इस संसार संबंध में अनेक तरह के प्रश्न कर रही थी। इस आन्दोलन के *पौरुषेय* पक्ष का अच्छा उदाहरण परसिया में जरथुस्त्रवाद में प्रकट हुआ जिसमें *नारी* को शाश्वत नारी के रूप में दानव **अहरीमन** की सहचरी के रूप में प्रमुखता से दिखाया गया है। (जो आहुरमजदा ईश्वर-जिसे बाद में ओहरमजदा कहा जाने लगा का शैतान रूपी शत्रु था) यद्यपि इसकी (नारी की) रचना ईश्वर द्वारा की गयी थी किन्तु जरथुस्त्रवादी — मैगियन विवरण में उसे शैतान के साथ वेश्या रूप में दिखाया गया और इस प्रकार उसे दुष्कर्मों की खान माना गया) चूँकि ईश्वर के शत्रु अहरीमन की वह सहचरी बनी, नारी रजस्वता हुई और इस प्रकार पुरुष को

भ्रष्ट बनाने में सचेष्ट हुई। ओहरमजदा विलाप करता है— "यदि मुझे दूसरा पात्र मिलता जिससे मनुष्य का निर्माण किया जा सकता तो मैंने कभी इस नारी का निर्माण न किया होता। बार-बार यह भी स्पष्ट किया गया है कि ओहरामजदा द्वारा अहरीमन को परास्त करने के लिए, नारी के लिए यह आवश्यक था कि वह बालकों को उत्पन्न करे। नारी को माँ और गृहपत्नी की हैसियत मिली।

नारी के संबंध में यह दृष्टिकोण जरथुस्त्रवाद से यहूदी धर्म में आयी और यहूदी धर्म से इस्लाम में आयी। ये तीनों महादेवी की शक्ति से संघर्ष करते रहे जिसकी उनके समाजों में पूजा की जाती थी और उसे नीची स्थिति में ला दिया।

आर्यों के आगमन के पूर्व परसियन समाज मातृसत्तात्मक था। कुर्दिस्तान के हिस्सों में नारी की स्थिति इतनी ऊँची थी कि वे सैनिक दलों तक का नेतृत्व करती थीं। परसियन सभ्यता के उदय से ही सत्ता-शिखर से नारी का पराभव हुआ। इसी प्रकार यहूदियों के चारों ओर महादेवी के पूजक शामिल थे जिसमें पवित्र वेश्यावृत्ति शामिल थी। सीरिया के असतारते मंदिर में उच्च वर्गों की नारियों को अपनी देह समर्पित करनी पड़ती थी जिससे मंदिर की रक्षा का काम चलता था।

यह पूजा का ही एक कर्मकांड था—जिसमें संसार की रचना करने वाले—देवी युग्म की महान् जोड़ी का अनुकरण किया जाता था और इसे व्यवसाय-प्रेरित वेश्यावृत्ति नहीं माना जाता था जिस दृष्टि से आज माना जाता है। किन्तु ओल्ड टेस्टामेंट में, जिसमें नारी प्रधानता के संबंध में पूरी तरह घृणा है, महादेवी के रोगहरणकारी, प्रेम और मानवीय गुणों की उपेक्षा हो गयी—जो बैबिलोन की निंदा से प्रकट होता है जिसे वेश्याओं का देश कहकर निंदित किया जाता था। यहूदियों के संबंध में यह याद रखना चाहिए कि वे मिस्रवासियों के गुलाम थे, जो उस काल में इसिस की पूजा करते थे यहूदी पुरोहितों ने अपनी रहस्य विधाओं में यह कहा कि मनुष्य रेंगने वाले कीड़ों, कोढ़ियों और रजस्वला स्त्रियों के संसर्ग में आकर अपवित्र हो जाता है।

इस्लाम के संदर्भ में, अरेबिया के बद्दू बेदुन्सि के संबंध में, जिनके मरुस्थलीय जीवन में मातृसत्तात्मक समाज से पितृसत्तात्मक व्यवस्था देरी से आयी उनकी भी प्रतिक्रिया यहूदियों की भाँति जिनसे उन्होंने बहुत कुछ सीखा। नारियों के ख़िलाफ़ रही। किताब-अल-अधनी कहती है: जाहितिया (इस्लाम पूर्व अरब में) में महिलाओं को या उनमें से कुछ को अपने पतियों को त्यागने का अधिकार था और परित्याग का अधिकार इस प्रकार था; यदि वे किसी तंबू में रहती थी, वे उसे घुमा देतीं थी, इस प्रकार तंबू का दरवाज़ा पूर्व की जगह पश्चिम दिशा में हो जाता और जब पुरुष इसे देखता था तो समझ जाता था कि उसमें वह प्रवेश नहीं कर सकता। इस प्रकार महिलाओं के पास अनेक पति आया करते थे। यद्यपि पैगम्बर स्वयं मक्का के थे और पितृसत्तात्मक समाज के थे किन्तु उनकी माँ अपने परिवार के साथ ही थी और उनके पिता अब्दुल्ला उनके पास कभी कभी जाते थे। दूसरे शब्दों में तत्कालीन समाज संक्रमण अवस्था में था— जो मातृसत्ताकुल से मातृकुल और पितृसत्ताकुल से पितृकुल की ओर अग्रसर था और कुछ समय तक दोनों का सहअस्तित्व था। पैगम्बर का निजी जीवन इस दृष्टिकोण को पुष्ट करता है। उनका

पहला विवाह खादीजा बिंत खुवायलिद से हुआ था जो एक धनाढ्य विधवा थीं, जिनका विवाह दो बार हो चुका था जो आयु में उनसे ज़्यादा थी और जो एजेन्टों की मारफ़त व्यापार करती थीं। उन्होंने पैगम्बर को उनके दैवी इलहाम में बहुत सहायता की थी जिसको उन्होंने अस्वीकार नहीं किया। किन्तु उस समय के रस्मोरिवाज के विपरीत उन्होंने अनेक बार विवाह किये। इस्लाम ने उस समय प्रचलित बहुपति प्रथा को निहत्साहित किया, बहुपत्नी प्रथा को प्रोत्साहित किया और स्त्रियों के ऊपर पुरुषों की श्रेष्ठता की घोषणा की। पुरुष स्त्रियों के अभिरक्षक है— इसलिए कि अल्लाह ने उन्हें दूसरों की अपेक्षा अधिक बुद्धि दी हैं और इसलिए कि उन्होंने उन्हें अधिक संपत्ति दी है। (विवाह की कीमत के रूप में) अच्छी स्त्रियाँ इसलिए आज्ञाकारी होती है, जो उन चीज़ों की रक्षा करती हैं जो अल्लाह ने उन्हें रक्षा करने के लिए दी हैं, वे उनसे डरती हैं जो उन्हें आधीन करना चाहते हैं, निंदित और प्रताड़ित करते हैं यदि वे तुम्हारी आज्ञा मानती हैं तो उनके ख़िलाफ़ कोई प्रयास मत करो।

नारियों की अधीनता का एक कारण पुरुष वर्ग का परस्पर सशक्त होना है। काम संबंधी समस्याओं से मुक्त सामाजिक और राजनीतिक जीवन से उनका पूरी तरह बहिष्कार और पुरुषों के विभिन्न अलग-अलग समुदायों के कारण उनमें एक प्रकार की प्रजातांत्रिक समानता की भक्ति जाग्रत हुई।

जैसा कि मैंने बच्चन की सातवें और आठवें दशक की फ़िल्मों के बारे में लिखा है कि उनमें नारी द्वेष और पुरुष बँधन के संदर्भ में एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक रिश्ता है।

नारी के प्रति औसत भारतीय के दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि का निर्माण विभिन्न तत्वों से होता है। सामान्यतः इसके लिए हमें हिन्दू परम्परा को समझना होगा जो कि मनु ने आदर्शीकृत की थी, इस्लाम के आगमन तक जिसका अनुकरण हुआ और जो कठोर होती गयी। जैसे-जैसे मुस्लिम शासन मज़बूत हुआ तो उसकी हिन्दू प्रजा ने अनुभव किया कि उसे सुरक्षात्मक उपाय करने होंगे और अपनी धर्म रक्षा के लिए उसने कर्मकाण्डों की रक्षात्मक दीवार खड़ी कर ली; पुजारियों, पंडितों, पुरोहितों द्वारा परंपरा की क्रमशः संकीर्ण व्याख्याओं द्वारा उस पर अटल रूप से आश्रित होना आरंभ हुआ। इसी समय उसे इस बात की आवश्यकता का अनुभव हुआ कि विदेशी शासक के साथ उसके सामाजिक रिवाजों को उसकी जीवन-चर्या से जुड़ा जाये। अपना कर इसके फलस्वरूप परंपरा के कुछ पितृसत्तात्मक पक्षों पर आग्रह होने के कारण पुरुष की प्रधानता का पक्ष पुनः प्रबल होता गया। **श्रुति** की अपेक्षा **स्मृति** अधिक महत्वपूर्ण हो गयी अर्थात् परम्परा की प्रचलित टीकाओं और क्षेपकों को मूल पाठों से अधिक महत्व दिया गया ताकि तत्कालीन ज़रूरतों के अनुसार उन्हें भलीभाँति मोड़ा जा सके और मुसलमान शासकों की भाँति नारी के संबंध में हिन्दू दृष्टिकोण को उसके क़रीब लाया जा सके। परदा को सख़्ती से लागू किया गया, लड़कियों की विवाह की आयु बहुत कम कर दी गयी (आज्ञापालन को कड़ाई से लागू कर) उनकी शिक्षा व्यवहारतः निषिद्ध कर दी गयी, पुत्रों को प्राथमिकता देने का संगठित प्रयास हुआ, सती प्रथा की महिमा बढ़ायी गयी और उसका प्रभाव बढ़ाया गया। रामायण के राम और अधिक परमेश्वर हो गये और सीता को नारी जाति का

आदर्श माना गया (प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है कि मुस्लिम राजाओं ने सती को बन्द करने के लगातार प्रयास किये यद्यपि इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली) यह अधिकांश कार्य स्मृति के पंडितों जैसे बंगाल के स्मार्त रघुनंदन के द्वारा किया गया। बंगाल में कुलीन ब्राह्मण सैंकड़ों स्त्रियों के साथ विवाह करते थे जिससे उन्हें अविवाहित रहने के अभिशाप से बचाया जा सके। वे उनके पास साल में या सालों में एकाध बार जाते और यहाँ तक कि उनके साथ सहवास का शुल्क भी लेते थे। ग्रामीण अंचलों में भ्रमण करते समय वे अपने साथ अपनी पत्नियों के पते आदि का विवरण देने वाला रजिस्टर भी रखते थे। अपनी पत्नी के साथ सहवास कार्य के लिए शुल्क वसूल करने की यह प्रथा अपर्णा सेन की फ़िल्म **सती** (1989) में दिखाई गयी है।

मुस्लिम राज का एक सहायक किन्तु मुख्य प्रभाव यह पड़ा कि हिन्दू समाज में काम-संबंधों के प्रति एक अति नैतिकता का विकास हुआ। अब परस्पर चर्चा में काम संबंधी उल्लेख तथा साहित्य और कला में उसकी अभिव्यक्ति और चित्रांकन एक अपराध भावना से परिसीमित हो गया जो जरथुस्त्रवाद, यहूदी, ईसाई और इस्लाम परंपराओं के कारण विकसित हुआ। नग्न देह का उल्लेख अब अवाँछनीय माना जाने लगा। दृष्टिकोणों की यह पृथकता, मुसलमान शासकों की अधीनता वाले क्षेत्रों और दूसरे राजाओं के राज में स्पष्ट रूप से दिखती है जैसे कि विजयनगर साम्राज्य जहाँ हिन्दू राजनीतिक आधिपत्य लम्बे समय तक रहा अथवा जिन क्षेत्रों में मुसलमानी-राज नहीं रहा या देर से स्थापित हुआ वहाँ परदा प्रथा की अनुपस्थिति; जैसे दक्षिण के अनेक बड़े राज। इससे इस्लामिक प्रभाव के कारण अतिनैतिकतामूलक प्रभावों के प्रमाण मिलते हैं।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि किसी भी मुस्लिम शासक ने यह बातें हिन्दुओं पर नहीं थोपीं। सच तो यह है कि यदि इस्लाम मतावलंबियों ने अपनी बातें भारत पर थोपीं होतीं, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं कि ऐसा किया गया होता तो शताब्दियों पहले ही हिन्दुओं की संख्या बहुत कम हो गयी होती। केवल आरंभिक मुसलमान शासकों ने ही भारत पर बाहर से राज्य किया था, किन्तु मुगलकाल में ये राजा न केवल भारत में ही रहे वरन देश और उसके लोगों से समरस हो चुके थे। उन्होंने यहाँ की भाषा अपना ली थी जैसा कि उर्दू भाषा के विकास और सूफीमत के विस्तार से प्रमाणित होता है जिसकी कि इस्लाम के कट्टर मतावलंबियों द्वारा बहुत निंदा की जाती है क्योंकि इस्लाम में रहस्यवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। कथक नृत्य का विकास और उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत परंपरा में मुसलमानों का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। उन्होंने इसके भक्ति आधार मात्र के स्थान पर उसे सौंदर्य और आनंद के अनोखे संसार में लाकर खड़ा किया जो वर्तमान — आज और अभी को सर्वोपरि महत्व देता है।

कथक और शास्त्रीय गायन का समाहार *तवायफ़* की संस्था में हुआ। जहाँ अशिक्षित पत्नी घर के भीतर बँधी थी— आदमी की लालसा सुसंस्कृत मैत्री की ओर थी जो ऐसी नारी का सामीप्य चाहता था जो विशेष प्रयोजन के निमित्त समाज से हटकर



अलग रहती थी। समाज के भीतर परदे ने नारी को पुरुष से छिपा दिया था। गुरुदत्त की फ़िल्म **चौदहवीं का चाँद** में प्रेमातुर नवाब ने जमीला की क्षणिक झलक ही देखी थी और बाद की कहानी भूलवश दूसरे व्यक्ति को अपना समझ लेने की कथा है। सच्चे प्रेम का मार्ग जो विवाह में जाकर समाप्त होता है इस तरह की सीमाओं में शायद ही कभी सहज गति से आगे बढ़े— चाचाज़ाद भाइयों को छोड़कर जिनके संदर्भ में पूरा प्रसंग ही पारिवारिक सीमाओं के भीतर छिपा है।

तवायफ़ के साथ रोमाँस सहजता है, नाचने, गानेवाली लड़की जिसकी खासियत यह है कि वह ऐसी लड़की है जो रिश्ते से नहीं जुड़ी है और आदमियों द्वारा देखी जा सकती है यह बात कि उसे नाचने गाने की शिक्षा दी गयी है— ऐसी बात है जो सामान्य घरों की लड़कियाँ— हिन्दू अथवा मुसलमान, सोच भी नहीं सकतीं, उसकी कृपादृष्टि की चंचलता मनुष्य का उसे सदा के पाने के लिए संकल्प और मजबूत करती है। कविता और संगीत उसके चरणों से बहता है। अपने प्रगल्भ साहचर्य द्वारा, सुरुचिपूर्ण और भव्य पृष्ठभूमि के साथ अभिजात्यपूर्ण व्यवहार और शक्तिशाली मनुष्य के गर्वीले भावों के लिए वह चतुराई और आकर्षण का केन्द्र बन जाती है। विवाह पूर्व प्रेमी के विपरीत रोमाँस मंद नहीं पड़ता क्योंकि विवाह का यहाँ सवाल ही नहीं है। जहाँ विवाह का प्रयास किया गया, उसका अंत एक भव्य दुखांत को में होता है जैसे कि कमाल अमरोही की फ़िल्म **पाकीज़ा** में हुआ। इस

श्रेणी की अनेक फ़िल्मों में विवाह के पहले या बाद में पूर्व-तवायफ़ की खोज कर
ली जाती है और इसके बाद सुखपूर्वक रहने की तमन्नाएँ जल्दी ही ज़मीन पर ही
ख़त्म कर ली जाती है। जब तक विवाह को टाला जायेगा, पत्नी के विपरीत तवायफ़
के साथ रोमाँस हमेशा चलता रह सकता है।
जहाँ पत्नी तवायफ़ की नक़ल करती है जैसे गुरुदत्त-अलबी की वहाँ भी ऐसी त्रासदी
अपरिहार्य है। इस श्रेणी की प्रायः सभी फ़िल्मों, केवल बी.आर. चोपड़ा की परोपकारिता
और आत्मजग फ़िल्म **तवायफ़** को छोड़कर का अभिप्रेत कथ्य उसके दर्शकों के
लिए यही है कि प्रचलित लीक से अलग हटकर चलने के परिणाम कितने विनाशकारी
हैं, और यह है कि पत्नी और तवायफ़ अपने-अपने व्यक्तित्वों को एक दूसरे से
बदलने की चेष्टा न करें और अपनी पूर्वनिर्दिष्ट भूमिकाओं की सीमाओं में ही बँधी
रहें। मुजफ़्फ़र अली की इसी नाम की फ़िल्म में **उमराव जान** का यह तथ्य कि
उसका अपहरण करके उसे **तवायफ़** की जिंदगी जीने की विवशता सहनी पड़ती है,
उसका अपराध नहीं माना जाता किन्तु उसके लिए अब उत्तर यही है कि जो हो
गया है उसे स्वीकार कर लो उसके प्रति विद्रोह मत करो। विवाह प्रेम के लिए
नहीं है, यह दो परिवारों के बीच किया गया व्यापार है, निकाह अंगरेज़ी अनुवाद
यही प्रकट करता है कि उसमें हिन्दुत्व अथवा ईसाइयत द्वारा दो व्यक्तियों के पवित्र
संबंधों की तुलना में सामाजिक अनुबंध का भाव अधिक है। विवाह पूर्व प्रेम का
उद्देश्य तब पूरा हो जाता है जब वह अपनी ही जाति (पुरुष) की संतति को जन्म
दे लेता है, इसके बाद उसका उद्देश्य समाप्त हो जाता है और अवसान अपरिहार्य
है। तवायफ़ के साथ प्रेम लम्बे समय तक चल सकता है क्योंकि उसका कोई
सामाजिक उद्देश्य नहीं होता। संभवतः उससे केवल एक ही उपफल निकलता है
वह है कविता और उसे भी अधिकांश समाज द्वारा *व्यर्थ* की चीज़ माना जाता है।
इसी प्रकार तवायफ़ को शादी नहीं करनी चाहिए क्योंकि उसके विवाह का लाँछन
उसकी संतति और उसके पति के परिवार पर पड़े बिना नहीं रहेगा।
यदि इसके कारण उसके मन पर पीड़ा के आघात हुए हैं तो भी उसने उनकी कभी
चर्चा नहीं की, इस मौन पीड़ा ने उसे अधिक रूमानी बना दिया। कम से कम उसे
बच्चों के कारण प्रसव पीड़ा तो नहीं सहनी पड़ेगी या सास-बहू के झगड़े से वह
मुक्त रहेगी। जीवन के प्रति वह निर्लिप्त हो गयी और यह भी जान गयी कि
आसक्ति कैसे कैसे जगाई जा सकती है। कवियों के लिए प्रेरणा जगाने में इससे
अधिक क्या चाहिए? हिन्दी फ़िल्मों के सबसे रूमानी गीत उसे ही समर्पित किये गये
हैं— **पाक़ीज़ा** और उमराव जान देखकर यह जाना जा सकता है। आज का हमारा
मुस्लिम समाज जब अतीत की स्मृतियों में खोता है तो मुगलकाल के वैभवशाली
दिन नहीं होते वह उसके पतनकालीन दिनों की स्मृतियों को याद करता है। वह
बहादुर शाह के उसका राज्य छिन जाने पर किया गया विलाप याद करता है और
तवायफ़ों द्वारा गाये गये अपूर्ण प्यार के गीत मुस्लिम समाज के लोगों की आँखों
में आँसू भर देते हैं।
यह बात केवल मुसलमानों पर ही लागू नहीं होती। पत्नी और तवायफ़ के बीच



भोगे गये अनुभवों का यथार्थ, एक जो प्रेमी बनने के लिए पूर्ण समर्पित और दूसरा
समर्पित होने के लिए रूमानी है उत्तर भारत के हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही शामिल
हैं। तवायफ़ ने अपने में गणिकाओं की उसी लुप्त परंपरा का समाहार कर लिया
था जो मिथकीय नायिका उर्वशी से लेकर बसंतसेना और वासवदत्ता तक भारत के
महान नगरों में प्रचलित थी। गणिकाओं की भाँति उसमें वही वाक् पटुता और भारत
आकर्षण था। वैसा ही स्थायी सौंदर्य और चारूता जिसके उदाहरण भारत के
क्लैसिकल, परवर्ती क्लैसिकल और इस्लाम के आगमन के पूर्व यहाँ मिलते हैं।
इस्लाम के आगमन के साथ ही यहाँ मध्यकालीन युग का आरंभ होता है। इसलिए
यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि **पाकीज़ा** और **उमराव जान** की अपील
हिन्दुओं और मुसलमानों को लगभग एक सी ही महसूस हो। यहाँ यह भी याद
रखना चाहिए कि आख़िर मुगल सम्राट बहादुर शाह द्वितीय ने भी दोनों को एक
समान आदरपूर्वक स्मरण रखा हैं। उनका व्यक्तित्व ऐसा था कि उसने उन सभी
शक्तियों को एक सूत्र में बाँध दिया था। जिसे ब्रिटिश द्वारा सिपाही विद्रोह का नाम

दिया गया था और भारतीय जिसे भारतीय स्वाधीनता का पहला युद्ध कहते थे। बंगाल में, अंतिम स्वतंत्र नवाब सिराजुद्दौला की स्मृति को बंगाल के लोग अपनी जातीय स्मृति में बराबर संचित किये हुए हैं और ... त्य और नाटक में उसे सम्मानित किये हुए हैं। इस प्रकार इतिहास और संस्कृति ... एक मिली जुली विरासत वहाँ जीवित रही और इसी के बीच तवायफ़ संस्कृति ...वित रही। चूँकि उत्तर भारत की हिन्दू परंपरा में तवायफ़ का कोई समानार्थी नहीं था इसलिए उसे मुस्लिम परंपरा की ओर ही अपना रुझान करना पड़ा।

दक्षिण भारत में अधिकांश भाग में मंदिरों में देवदासी की परंपरा ज़ारी रही जो पवित्र वेश्यावृत्ति के रूप में प्रचलित हुई और जिसका प्रसार दक्षिण पूर्वी यूरोप, पश्चिम और दक्षिण एशिया और बहुत संभव है कि हिंदू घाटी सभ्यता से हुआ था और जिसकी जातीय विरासत संभवतः द्रविड़ों में शेष रह गयी। देवदासियाँ मंदिर की कुमारी कन्याएँ इसी अर्थ में थीं कि उन्हें विवाह की अनुमति नहीं थी। उनका वेश्या पक्ष (महादेवी की परंपरा के संदर्भ में इसका उपयोग एक ग़लत शब्द के रूप में) घोषित कम व्यवहृत और आचारजन्य अधिक था, विधितः कम किन्तु वस्तुतः अधिक था। विवाह न कर सकने की उनकी असमर्थता से उन्हें और उनके प्रेमियों को उतनी ही पीड़ा हुई होगी जैसी कि उत्तर में तवायफ़ों को (संभवतः और अधिक क्योंकि तवायफ़ और नवाब की तो कभी-कभी शादी भी हुई है यद्यपि ऐसे उदाहरण दुर्लभ ही है। यह बात महत्वपूर्ण है कि देवदासी परंपरा धीरे-धीरे समाप्त हो गयी पहले इस्लामी साम्राज्य के अन्तर्गत और बाद में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत और उसके कुछ चिन्ह केवल उड़ीसा में ही शेष रहे। इसके परिणाम स्वरूप भारत में शताब्दियों तक क्लैसिकल युग की विदूषी गणिका का कोई समानार्थी ही नहीं था।

पत्नी और तवायफ़ के बीच इस अन्तर और अलगाव के साथ ही उसके विदुषी रूप की छटा को बी.आर. चोपड़ा की **तवायफ़** फिल्म ने दूर करने की चेष्टा की जिसका उल्लेख मैंने पहले किया है। उन्होंने उसका ब्याह कराया और उसे आदर्श पत्नी का रूप दिया जिससे सारा समाज उसकी प्रिय वधु (रति अग्निहोत्री) का स्नेहभाजन हो गया। वास्तव में उसे एक भयंकर अपराधी ने सुरक्षित रूप से रहने की दृष्टि से रखा था किन्तु प्यार ने सारे किये कराये पर पानी फेर दिया। अंत में जब वह अपराधी उसे पुनः प्राप्त करता है और पास-पड़ोस के लोग उसके अतीत से वाक़िफ होते हैं तो उसके रखवाले को और समाज को उसके प्रति इतना प्रबल अनुराग होता है कि वे उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते। प्रेम की धारा से उनके हृदय भर जाते हैं और वे उस अपराधनी कन्या को समाज की मुख्य धारा में शामिल कर उसका उद्धार कर देते हैं। इस उद्धार कार्य में नवाबों और अभिजायवर्गीत धनाढ्यों की सहायता नहीं ली गयी क्योंकि समग्र प्रेम की ऐसी धारा की आशा ग़रीबों और वंचितों, दलितों से ही की जा सकती है। तथापि चोपड़ा द्वारा इस्लामिक संस्कृति के एक दीर्घकालीन मिथक का हिन्दूकरण करने का यह प्रयत्न एक मजबूत वृक्ष को गिराने के लिए बिलकुल अनुपयुक्त है। इसके विपरीत **पाकीज़ा** में सामाजिक रिवाज की शक्ति की पुष्टि की गयी है जो दो वर्गों को विभाजित करते

है। जब काज़ी निक़ाह की रस्म में जो एक छोटे से पठार पर खुले में हो रही थी मीनाकुमारी से उसका नाम पूछता है तो वह कोई उत्तर नहीं देती। उसका भावी पति राजकुमार उसके लिए उत्तर देता है और उसका नाम **पाकीज़ा** (पवित्र) बताया है। इस पर घोर अपमान महसूस करते हुए वह तवायफ़ चिल्ला कर कहती है— नहीं नहीं और भागने लगती है और जब वह पहाड़ी से नीचे की ओर भागती है तो उसका दुपट्टा हवा में एक विशाल पक्षी के पंखों की भाँति उड़ रहा होता है। यह एक बहुत भव्य दृश्य है जिसमें सम्मान की टर्को-अरेबिक अवधारणा मूर्त्त हुई है जिसमें यह आवश्यक है कि पत्नी अपने पति के प्रति पूरी तरह एक विवाही के रूप में समर्पित है (मात्र औपचारिक पवित्रता नहीं जैसा कि हिन्दुओं के मामलों में) इल्माज गुने की फिल्म **योल** में परिवार यह माँग करता है कि अपने पति की अनुपस्थिति में काम-कर्यादाओं का उल्लंघन करने के कारण पत्नी को मृत्युदंड दिया जाये। कमाल अमरोही की फिल्म **तवायफ़** से शादी करने के पारंपरिक खतरे का पर्दाफ़ाश करती है जबकि उसका एक पूर्व संरक्षक सड़क पर उसे पहचान जाता है। फ़िल्म का अभिप्रेत यह है कि तवायफ़ से पत्नी बनाने के प्रयास की परिणति निश्चय ही असफलता में होगी। मुज़फ्फर अली की फ़िल्म में नवाब प्रायः ही कोठे पर जाते हैं और उसे इससे बचाने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करते और सामाजिक यथार्थ से भली भाँति परिचित है। अली मिरजा हादी रुसवा की पुस्तक उमराव जान अदा के अनूठे साहस के सभी चिन्हों को हटा देते हैं और उसे तथा स्वयं को विशिष्ट कोठा संस्कृति के मधुर, मोहक, भावुक और रूमानी गीतात्मकता के प्रात्यमुग्धकारी स्वरूप के सामने समर्पित कर देते हैं। वे इन सभी की अतिशय सूक्ष्म समझ दिखाते हैं जो इस वर्ग की फ़िल्मों में दुर्लभ है। इस फ़िल्म की आत्यांतिकता, संबंधों की सूक्ष्म बुनावट का तानाबाना उसके समग्र परिवेश को विश्वसनीय बनाता है। इसके संगीत पर भी विशादपूर्ण अनुभूति की पूरी छाया है जो ह्रासोन्मुख मुगल परंपरा की कोठा संस्कृति के प्रति उन लोगों के दिलों में विरहासक्ति जगाता है जिन्होंने कितनी भी दूर से हो किसी भी प्रकार से इस अनुभव का आस्वाद लिया हो। चोपड़ा ने एक हिन्दू के रूप में (और बाद में महाभारत के कट्टर हिन्दू) इस श्रेणी के रिवाज़ों को हटाने की चेष्टा की और असफल हुए; दो मुसलमान कमाल अमरोही और मुज़फ्फर अली ने इनकी पुष्टि की जिससे उनकी फ़िल्मों ने सफलता पाई।

कोठा — वह घर है जहाँ वेश्या अपने ग्राहकों से मिलती है, हिन्दी सिनेमा में आमोद प्रमोद का भीतरी अंग है जो परवर्ती काल के मुगलों की याद दिलाता है और लखनऊ और हैदराबाद की मुस्लिम-उर्दू संस्कृति की छाप छोड़ता है इस रिवाज के बाहर प्रेम का अभिनय शायद ही कभी घर की सीमाओं के भीतर किया गया हो। हिन्दू परंपरा क्लैसिकल भारत की गणिका का आह्वान नहीं करता किन्तु प्रकृति की गोद में कृष्ण की गोपियों के साथ रासलीला का स्मरण करता है। कृष्ण का सर्वप्रथम उल्लेख छंदोग्य उपनिषद में (800 ई.पू.) में मिलता है जो देवकी के पुत्र और ब्राह्मण विद्यार्थी के रूप में है। कृष्ण पर देवत्व का आवरण लगभग सात सौ वर्षों के लम्बे काल में हुआ और संभवतः और पहले तक महाभारत के आरंभिक

आख्यान (400 ई.पू.) तक जाता है। जय जो कुरु जाति के परस्पर विरोधी दावों
और लड़ाई की कथा है जो हरिवंश (लगभग 3-8 वी ई. तक) और विष्णुपुराण
और अंत में (भाग... पुराण (एक बाद का भाष्य) तक चलती है। इस लम्बे
संक्रमण काल में उ... देवता के रूप में रूपान्तरित कर दिया जाता है। महाभारत
की मूल युद्ध कथा ... (अर्थात् उसके आरंभिक स्वरूप में) वे बहुत मानवीय हैं,
एक दक्ष कूटनीतिज्ञ ... जो कौरवों के ऊपर अंततः एक लम्बी लड़ाई में बड़ी कीमत
चुकाकर पांडवों को विजयी बनाते हैं। इस तरह ब्राह्मण क्षत्रियों का यह कर्तव्य
निर्धारित करते हैं कि न्याय युद्ध में उन्हें अंत तक लड़ना है, चाहे वह कितनी ही
भयानक और कठिन क्यों न हो। कृष्ण इस घटना प्रवाह में मार्गदर्शन देते हैं। कृष्ण
हर बार युक्तिपूर्वक सीधे ही हस्तक्षेप करते हैं जब वे यह देखते है कि विजयश्री
पांडवों के हाथ से निकल जायेगी। इसका संकेत यह है कि क्षत्रियों के धर्म के
अलावा कुछ और भी था जो दाँव पर लगा था। कृष्ण के दैवी रूप ई. सन् पाँचवीं
शताब्दी तक (दो क्षेयकों में) चले आते हैं अर्थात् क्लैसिकल युग तक। जो एक
ऐतिहासिक व्यक्तित्व था वह धीरे-धीरे देवता के रूप में परिणत हो जाता है जो
क्लैसिकल सभ्यताओं की विशेषता है जिसमें ऐतिहासिक समय की क्रमबद्धता का
अभाव है (सिकन्दर अपनी मृत्यु के 100 वर्षों के भीतर ही देवता बन चुका था)
यह भी महत्वपूर्ण है कि कृष्ण, अन्य बहुत से अनेक देवताओं की तरह, मात्र
भारतीय ईश्वर ही नहीं हैं वरन् देवताओं के विस्तृत भौगोलिक तानेबाने के एक
अंग हैं जो दूसरे देशों में भी समान रूप से समादृत हैं विशेष रूप से यूनान में
वे सूर्य देवता हैं और इस रूप में मातृ देवियों के ऊपर पुरुष शक्ति की विजय
का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वे शताब्दियों के बाद
इस रूप में विकसित हुए जिस दौरान भारत में पितृसत्तात्मकता मज़बूत हुई और वे
सहस्त्रों नारियों के प्रियतम स्वामी बने जिनकी सोलह हज़ार एक सौ आठ पत्नियाँ
थीं। उन्होंने नरकासुर नामक राक्षस को पराजित किया था जिसने सौलह हजार एक
सौ आज राजकलमारियों को बंदी बना लिया था और फिर इन्हें मुक्ति दिलाई थी।
जब उन्होंने कृष्ण को देखा तो वे उनके प्रेम में पड़ गयीं और उन्होंने उन सभी
को अपने घर द्रारावती भिजवा दिया।

इसके अलावा जब उन्होंने सत्या से विवाह किया तो उसके पिता ने उन्हें दस हज़ार
गायें और तीन हज़ार युवा नौकरानियाँ दहेज के रूप में दीं। उन्होंने रुकमणि का
अपहरण किया जो विदर्भ की राजकन्या थी। साथ ही अवंती की राजकन्या मित्रवृन्दा,
भद्र राजकन्या, लक्ष्मणा और भद्रा नामक राजकुमारियों के साथ मी विवाह किया
था। कृष्ण को देखने के लिये नारद स्वयं द्वारका गये कि कैसे एक साथ वे इतनी
नारियों के साथ जीवन बिता रहे हैं। वे इस बात से बहुत प्रभावित हुए कि कृष्ण
के घर का अंतःपुर विश्वकर्मा ने बड़ी रुचिपूर्वक सजाया था और यह देखकर वे
और अधिक प्रभावित हुए कि प्रत्येक कमरे में कृष्ण एक मित्र पत्नी के साथ रमण कर रहे थे।
प्रासंगिक और दिलचस्प बात यहाँ कृष्ण के विवाह के पूर्व की रास क्रियाएँ हैं
वृदांवन की गोपियों के साथ। शिशिर ऋतु की ...

स्नान करते हुए कृष्ण का ही गान कर रही थीं, कृष्ण अपने सखाओं के साथ वहाँ आते हैं उनके कपड़े चुरा ले जाते हैं और कदंव वृक्ष के ऊपर बैठकर उनकी जलक्रीड़ा निहारते हैं। जब वे अपने कपड़े माँगती है, तो वह उन्हें किनारे पर बुलाते हैं। वे दोनों हाथों से जितना बन सकता है अपने अंग ढँक कर आती हैं। कृष्ण उनसे कहते हैं कि वे दोनों हाथ जोड़कर उन्हें सिर से ऊपर उठाकर अपने कपड़ों के लिए उनसे याचना करें। जब वे यह सब कर चुकीं तो कृष्ण उनके वस्त्र उन्हें लौटाते है और कहते हैं ''तुम्हारा प्रेम मेरे लिए वासनाओं की पूर्ति के लिए नहीं है अब तुम ब्रज जाओ। इस शरदीय रात में तुम मेरे साथ लीला करोगी।

इस बातचीत की द्वयर्थकता ही नारियों के साथ कृष्ण के संबंधों का संपूर्ण प्रतिबिंब प्रकट करती है। जैसे ही वे देवत्व प्राप्त करते हैं और हिन्दू देव कुल में उच्च स्थान पर होते हैं तो बहुत विस्तृत अर्थ निरूपण द्वारा दृष्टान्त निरूपित किये जाते हैं कि यह जीवात्मा (व्यक्तिगत आत्मा, गोपी) और परमात्मा (विश्वात्मा कृष्ण) का मिलन है। तथापि यह मिलन आगे चलकर अधिकाधिक सजीव बनता चला जाता है जैसे-जैसे शताब्दियाँ गुज़रती जाती हैं और कृष्ण सांसारिक और दैवी के मिलन स्थान बन जाते हैं। राधा और गोपियों के साथ कृष्ण के मिलन के वर्णन भले ही कितने ही स्पष्ट क्यों न हो परंपरा में राधा का आगमन प्रमुख पाठों के काफी समय बाद हुआ। उसमें आध्यात्मिक प्रतिपादन की गुंजाइश हमेशा ही रही जिसे पढ़कर (पाठ के संबंध में) पाठकों को या श्रोताओं को (पाठों अथवा गीतों से या दर्शकों को (चित्रकला से) आनंद मिली इस कविता और उसकी ऐन्द्रिकता ने स्त्री पुरुष के प्रेम की अभिव्यंजना भी आनंद की अनुभूति कराई और बताया कि इसमें किसी प्रकार की पापानुभूति नहीं है। जयदेव अथवा विद्यापति की कविता में यह स्पष्टता अपनी संपूर्णता में पवित्रता के आवरण में परिवेष्ठित है। यहाँ तक कि अति नैतिकतावादी कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता और गीतों में राधा कृष्ण की वैष्णव मूलक कल्पना और अनुभूति सूक्ष्म रूप से अनुस्यूत है। उन्होंने इस प्रचलित रूप को नयी वैधता दी जो मात्र प्रेम काव्य प्रतीत होता था और पुरुष नारी के मिलन की महिमा चरितार्थ की। वे कहते हैं (अगर पा बो को था- देवताराय प्रियो करी, प्रियेराय देवता) मैं और क्या कर सकता था- मैं ईश्वर को प्रेमी बना देता हूँ और प्रेमी को ईश्वर। शताब्दियों तक कविता, चित्रकला, मूर्तिशिल्प (प्रथम गोपी कवितास मूर्तिशिल्प गुप्त काल तक जाता है) और लोक नाट्य के द्वारा भौतिक और देवी की यह युति अब एक चट्टान की भाँति दृढ़ हो गयी जहाँ परस्पर भिन्न तत्व एक साथ विराजमान हो सकते हैं बल्कि दोनों को एक कर देते हैं।

गीत और नृत्य कृष्ण लीला के महत्वपूर्ण तत्व हैं। अपनी बाँसुरी द्वारा वे उन्हें आमंत्रण देते हैं, गृहणियों को रात्रि में चुपचाप घर छोड़ने को विवश कर देते हैं और इस बात के लिए चौकन्नी है कि कहीं कठोर सास और ननद उसके नूपुरों की आवाज़ से जाग न जाये। उत्तर भारत में प्रचलित एक बहुत प्रसिद्ध गीत को प्रायः हर जगह ही दुहराया जाता है- इसी डर के भाव की प्रतिध्वनि इस प्रकार मिलती है- **झन झन झन पायल बाजे, जागे मारी सास ननदिया** (मेरे नूपुर बज उठते

हैं और मेरी सास ननद जाग उठती है) रासलीला में कृष्ण गोपियों के हाथ पकड़कर गाते और नाचते हैं। मणिपुर में आज भी एक शास्त्रीय नृत्य में बड़ी श्रद्धा के साथ बिल्कुल धार्मिक आस्था के साथ इसका अभिनय किया जाता है असंख्य लोक शैलियों द्वारा कृष्ण और राधा के मिलन का उत्सव दिखाया जाता है गोपियों के साथ उनकी लीलाएँ, उनकी प्रतिद्वंद्विता और झगड़े और मान-मनुहार लोक नाटय शैलियों के प्रिय विषय हैं।

इस पृष्ठभूमि में हमें फ़िल्म के गीत और नृत्य को जो बहुधा बाहर ही आयोजित होते हैं समझना पड़ेगा। एक गाल के रूप में कृष्ण की गोपियों से लीला बहुधा प्रकृति की गोद में ही होती है जहाँ ईर्ष्यालु स्त्री पुरुषों की कुदृष्टि न पड़ सके। इन गीतों और नृत्यों में नायक और नायिका की भाव-भविमाओं द्वारा काम भावों की ही अभिव्यक्ति होती है उनके वस्त्र उनकी चाल ढ़ाल और न छिपने वाली उनकी इच्छाएँ जो उनके दृष्टि विनिमय से प्रकट होती है, सौ वाद्य यंत्रों वाले विशाल आर्केस्ट्रा की आवाज़ पर दर्शक को झंकृत कर देती है। इसके द्वारा ही मन के तनावों की निवृत्ति भी होती है। हज़ारों फ़िल्मों ने विभिन्न कोणों से इन्हीं भावों को पूर्णता तक पहुँचाया है। पश्चिमी फ़िल्मों की तरह न ही इनमें नग्नता है और न ही पाखंडपूर्ण स्त्री-पुरूष संभोग बल्कि इसके विपरीत एक प्रभावशाली वैकल्पिक नृत्य है जिसमें देह की गतिमानता, वक्षस्थल का अंग संचालन, नाभि प्रदेश का लहराना और नितंबों का कँपन एक साथ दृष्टिगोचर होता है। इसमें मनुष्य अपना सिर और हाथ नारी के कटि प्रदेश के निकट रख सकता है जो ख़तरनाक महसूस होता है किंतु प्रकटतः यह सहज निष्पाप भाव से होता है। प्रत्येक बार यह अंग संचालन स्पष्टतः जब अपनी चरमसीमा पर पहुँचता है तो दोनों (युगल) मानों शाश्वत समागम- व्यवधान के भाव से अलग उड़ान सी मारते हैं और इसी भाव को दुहराने के पुनः समीप आ जाते हैं। संगीत इन सब क्रियाओं में बहुत महत्वपूर्ण निभाता है। प्रेमी और प्रियतमा के बीच कार्यव्यापार को संगीत अपने आरोह अवरोह द्वारा, कभी आगे आकर और कभी पीछे जाकर एक समांतर वातावरण की सृष्टि करता है।

निस्संदेह, जंगल में आदर्शनायक और मिथिकीय प्रेमी के रूप में मगन कृष्ण की भूमिका एक आदर्श रही है। गोपियों के साथ उनकी लीला प्रकृति की गोद में होती है जो विवाह के प्रतिबंधों से मुक्त है। कृष्ण की लीलाओं में एक प्रकार का दुष्टतापूर्ण भाव है जो गोपियों के कपड़े चुराकर ले जाने और युक्तिपूर्वक उनके हाथ जननेन्द्रिय से हटाकर याचना की मुद्रा में ऊपर उठाने का आग्रह करने में दृष्टिगोचर होते हैं। कृष्ण राधा से प्रेम करते हैं (यह मध्य युग से प्रारंभ होता है, इससे पूर्व के पाठ इसका कोई उल्लेख नहीं करते) किंतु रात अन्य गोपियों के साथ बिताते हैं और वापिस आकर अपने शरीर पर दंतक्षत के चिन्हों की छाप लेकर पुनः राधा से रस-भरी बातचीत करते हैं ताकि वह कृष्ण से प्रेम करने लगे। यह अवश्य है कि इसमें जीवात्मा और परमात्मा का रूप है (बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय इस अवधारणा के बहुत प्रबल पक्षधर थे) लेकिन जन-मानस इसमें

दैहिक धरातल पर पुरुष और स्त्री की प्रेम-क्रीड़ा ही है। यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि मनुष्य भी ईश्वर है और वह भी अपनी ज़िम्मेदारियों को पूरा किये बिना प्रेम का स्वाद चखने के लिए स्वतंत्र है। केवल महाभारत के कूटनीतिज्ञ कृष्ण, अर्जुन के सखा, दार्शनिक और मार्गदर्शक और सोलह हज़ार एक सौ आठ रानियों के हृदयेश्वर-कृष्ण ही ऐसे नहीं है जो आदर्श प्रेमी का नमूना प्रस्तुत करते हैं। युवा और वृंदावन के अविवाहित कृष्ण लोकप्रिय सिनेमा के लिए बहुत उपयुक्त हैं। परिश्रमपूर्ण प्रयासों के बाद भी इन दोनों कृष्ण को संतोषजनक ढंग से एकाकार नहीं किया गया। सच तो यह है कि ये कृष्ण सचमुच प्रेमी नहीं है वरन् प्रेमपात्र हैं जितनी और नारियाँ सहज रूप से आकृष्ट होतीं है। वैष्णव धार्मिक रीतियों में नारियाँ प्रमुख रूप से प्रेमिकाओं के रूप में आती हैं किंतु शैव धर्म के अनुसार वे माँ के रूप में उपस्थित होतीं हैं। यह वक्तव्य इस दृष्टि से अच्छी तरह से समझाया जा सकता हैं कि यह मातृ मूलकता से पितृसत्तात्मकता की ओर संक्रमण है। शैव धर्म में माता मातृदेवी है और संपूर्ण पश्चिमी एशिया और दक्षिण पश्चिमी यूरोप में उनके पास उनकी सेवा में एक वृषभ और **डायनोसिस** उपस्थित (मद्य और उर्वरता के ग्रीक देवता) रहता है डायनोसिस और शिव में जो असाधारण समानता है उस पर तुलनात्मक देवोत्पत्ति विषयक चर्चाओं में बहुत टिप्पणियाँ मिलती हैं। इसके दूसरी ओर कृष्ण, सूर्य देवता हैं जो ग्रीक देवता ऐकिलीज की भांति पितृसत्तात्मक क्रान्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं (एकिलीज़ की मृत्यु भी कृष्ण की तरह एडी में बाण मारने से हुई थी। उनकी असाधारण बहुपत्नीत्व क्षमता मातृदेवी के ऊपर मातृदेव की विजय का जयघोष है। इसलिए उनके और शिव के बीच शत्रुता होने के कारण दोनों के बीच समझौता कराने की निरंतर प्रयास किया गया है। ब्राह्मणवादी भाष्यकारों ने इसलिए बड़ी कुशलता से देवपरिवार की समन्वित छवि प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। तथापि शिव अर्ध नारीश्वर हैं जो विष्णु के विपरीत, स्त्री पुरुष समानता और एकता को मान्यता देते हैं। इसलिए कृष्ण के संबंध में नारियों के संग साथ की बात भ्रामक है। यह तथ्य कि जैसे ही वे कृष्ण की बाँसुरी सुनती हैं वे उनके साथ आ जाती हैं और यह बात कि वे उनके साथ अपनी प्रसन्नता के अनुसार कुछ भी करने के लिए स्वतंत्र है— पितृसत्तात्मक समाज की ही पुष्टि करते हैं— यह पुरुवा के उदाहरण के बिलकुल विपरीत है जो न केवल अपने स्थायी प्रेम के के लिए वरन अपने जीवन के लिए भी उर्वशी से याचना करता है जो हम ऋगवेद के अठारह सूक्तों की चर्चा में देख चुके हैं।

यह देखने की बात है कि नारियाँ अभिताभ बच्चन की फ़िल्मों में **जंज़ीर** के बाद से— अपनी प्रेरणा से ही आती हैं। वह इसी बात को बार-बार प्रमाणित करता है— **डॉन** में, **अमर अकबर एंथोनी** में और इसी प्रकार की फ़िल्मों में जैसा कि हमने कई बार देखा है। जीवन में उसका उद्देश्य दुनिया को ठीक करना है, अन्याय पीड़ित लोगों के लिए न्याय प्राप्त करना है— और कृष्ण की भांति इस उद्देश्य के लिए प्रासंगिक है जो युवा-क्रीड़ाओं में आनंद मग्न हैं। यह पुरुषोचित उद्देश्य दूसरे पुरुषों के साथ मैत्री के बँधनों की भी अभिव्यक्ति है। बच्चन के ऐसे भाव की ओर

अधिक झुके है जो कि **जंज़ीर** के बाद की उसकी सभी फ़िल्मों में दिखाई देता है। यहाँ विशेष उल्लेखनीय बात **सिलसिला** की गहरी दोस्ती में देखी जा सकती है। वह परिवार और मित्र (शशिकपूर) के बँधनों के बीच रेखा के साथ रूमानी संबंध की एक गहरे भावनात्मक आवेग की ओर संकेत करता है जो उसकी यह सामर्थ्य प्रकट करता है कि वह नारी के प्रति दुलार करने की अपेक्षा अपनी इच्छानुसार कार्य; को अधिक महत्व देता है। ऐसे में ही अब अवसर आता है तो वह पारिवारिक बँधन को तरहीज़ देता है और रेखा का प्रसंग एकदम अमोद तक ही सीमित हो जाता है— जो हमे कृष्ण की छवि का ही स्मरण कराता है।

जहाँ बच्चन के प्रेमप्रसंग घर के भीतर होते हैं जैसे **मुकद्दर का सिकंदर**। तो संदर्भ कोठे का रहता है और बाहर के कार्यों से उसका कोई नाता-नहीं रहता। किंतु एक बार फिर कोठे और तवायफ़ से जिसे रेखा द्वारा दो फ़िल्मों में प्रदर्शित किया गया पर्याप्त रूप से ऐसी छवि का निर्माण होता है जो गोपी और तवायफ़ की छवि को ही साकार करती है। इसमें भी कृष्ण नहीं वरन् पुरुषोचित इच्छा ही समाज पर सर्वोपरि रहती है जो नारियों को एक सीमित भूमिका की ही सुविधा देती



है। इसमें अतिसामान्य स्त्री को रूमानी प्रेम का अभिमय मात्र करने की अनुमति है
क्योंकि वह पूर्णता को नहीं पा सकती। नाइट क्लबों में नाचने वाली, तस्करों की
रखैल (**जंज़ीर** में मोना, **दीवार** में अनीता और इसी प्रकार की अन्य तवायफ़ के
ही आधुनिक भ्रष्ट सस्ते पश्चिमी संस्करण हैं। बच्चन के प्रगल्भ व्यक्तित्व के कारण
ये प्रचुरता से मिलते हैं जैसा कि दीवार में जो स्त्री उस पर मोहित है वह नाइट
क्लब की नर्तकी है, जो चतुर अपराधी वर्ग की पिछलग्गू है। बच्चन उसका नाम
भी सुनना पसन्द नहीं करते क्योंकि "ऐसी लड़कियाँ अपने नाम इतनी बार बदलती
हैं जितनी बार वे अपने कपड़े बदलती हैं" — जैसा कि वह तुच्छतापूर्वक उसे
याद दिलाता है। **दीवार** में एक कैबरे नर्तकी इस प्रकार उस संबंध को गाकर प्रकट
करती है: तुम मेरे ऊपर बहुत उपकार कर रहे हो किन्तु वे रात भर के लिए ही
हैं। सुवह दूसरा दिन आरंभ होगा, और एक नया चेहरा नयी उत्तेजना, नयी उमँग
लायेगा लेकिन ऋतुओं के अनुसार ही तुम बदल जाओगे— मैंने कभी किसी को
सच्चा प्यार करते नहीं देखा ।

यह गीत तब और अर्थवान हो जाता है जब हम आतंजरिक दशकों की फ़िल्में याद
करते हैं— जहाँ रूमानी प्रेम के वातावरण में पुरुष नारी को बड़ी सुकुमारता से
चाहने का यत्न करता है। ऐसी फ़िल्मों में गुरुदत्त, राजकपूर, बिमल रॉय और अन्यों
की वहुत सी फ़िल्में हैं जिनमें राजेश खन्ना (विशेष रूप से **अमर प्रेम** 1971)
और धर्मेन्द्र तक आते हैं जो अभिताभ के पूर्ववर्ती थे और जिसके पुरुष प्रधान रूप
ख़तरे की अपेक्षा आकर्षक रूप से शोभा की वस्तु है।

जब कभी चहारदीवारी के भीतर पुरुष और नारी समीप आते हैं, तो सभी कामजन्य
तनाव जो बाहर नृत्यगान क्रम के रूप में संपादित होते हैं एकदम तिरोहित हो जाते
हैं। यह रिश्ता बिलकुल निश्चेष्ट-सी पवित्रता में बदल जाता है और अतिशय
भोलेपन का रूप धारण कर लेता है। **जंज़ीर** में माला और विजय एकही कमरे में
सोते हैं किन्तु कामचेतना का उन्हें तनिक भी अहसास नहीं होता। **बॉबी** में यह
मासूमियत और भी कम बनावटी है क्योंकि पात्र युवा हैं किंतु कामजन्य तनाव की
संभावना— यहाँ गीत के माध्यम से उड़ जाती है (हम तुम एक कमरे में और
चाबी खो जाये) यह गीत वास्तविक स्थिति को काल्पनिक बना डालता है और
वर्तमान अतिक्रमण कर उसकी प्रसार भविष्य में करता है जहाँ निश्चय ही कामजन्य
तनाव पैदा होंगे। **जख़्मी औरत** (1987) में डिंपल और उसका प्रेमी एक ही घर
में बिना किसी तीसरे व्यक्ति की उपस्थिति में सोते हैं और यहाँ भी वे दैहिक मनोभावों
के संबंध में बेसुध रहते हैं। अगर वे घर के भीतर एक दूसरे का सहज ही
आलिंगन करते तो वे पाप समझा जायेगा किन्तु गीत और नृत्य की जोड़ियों में
साहसिक भावगिमाएँ सहज ही दिख जाती हैं इसमें पुरुष का चेहरा स्त्री के बिलकुल
पार्श्व में कभी उसके वक्षों और नाभि प्रदेश के ऊपर ही आ जाता है और उसे
सहज ही माना जाता है, कोई इस पर ध्यान नहीं देता।

अनुवादः श्रीकांत तिवारी

हिन्दी सिनेमा का भव्य सम्मोहन

रत्नाकर त्रिपाठी

हिन्दी सिनेमा के सम्बन्ध में व्यंग्यात्मक लहजे में बात करना एक स्थापित प्रवृत्ति बन चुकी है— मेरे मस्तिष्क में खालिद मोहम्मद द्वारा *टाइम्स ऑव् इण्डिया* के लिए तथा देबू नायर (छद्म-नाम) द्वारा *डेबोनेयर* पत्रिका के लिए की गयी समीक्षाएँ हैं। ऐसा लगता है कि आप आसानी के एक निर्माण अथवा विचारपूर्ण मुखमुद्रा लिये **आज़ाद देश के गुलाम** जैसी फ़िल्म पर विचार नहीं कर सकते, भले ही *चलती का नाम गाड़ी* से एक दृश्य-श्रृंखला का स्मरण करते हुए आपकी आँखें नम हो जाती हों और चाँदनी रात में हौले-हौले घूमने निकली साड़ी में लिपटी मधुबाला की आकृति के इर्द-गिर्द गंभीर विचारधारात्मक प्रश्न एकत्र होना शुरू हो सकते हैं। वह मुख्य कारण है कि मैं इस विवेचन का आरंभ अतिशय निर्ममता के साथ करना चाहता हूँ। किन्तु इस निर्माता का हिन्दी सिनेमा की आम आक्रामक छीछालेदार से बहुत थोड़ा ही लेना-देना है, मुख्यतः इस कारण है कि मैं ढूँढ़ निकालना चाहता हूँ यदि इस तथाकथित जनता की अफीम में इसके कारण साथ चलते हुए कुछ ठोस पोषक मूल्य भी हैं। यह भी कि मैं किसी विशिष्ट फ़िल्म के भीतर गहन संरचनाओं का अनावरण करने नहीं जा रहा हूँ क्योंकि फ़िलहाल मेरा उद्देश्य महत्तर प्रश्नों का एक समुच्चय सामने रखना तथा उनके उत्तर देने का प्रयास करना है।

अतः निर्ममतापूर्वक ज़ारी रखते हुए, हम नागरिक के दर्शक के रूप में अधिकारों के मुड़े से आरंभ करते हैं। दुर्भाग्यवश मैं पाता हूँ कि मेरी अपनायी गयी निर्ममता मुझे केवल उपहास का पात्र बनायेगी, सीधे-साधे इस कारण क्योंकि अंतिम विश्लेषण में दर्शक का अधिकार उस फ़िल्म से उठकर बाहर निकल जाने के निर्णय तक सीमित है, जिसे देखते जाना वह बर्दाश्त नहीं कर सकता। यदि कोई दर्शकों के अधिकारों के सृजन के लिए एक गंभीर स्थल की आशा कर रहा था तो वह एक स्थूल अंत तक आ चुका है।

उस व्यक्ति की कल्पना करना अवसादपूर्ण है जो एक सिनेमाघर तक आने के लिए कई किलोमीटर चला है, जिसे क़तार-जैसी किसी चीज़ में ज़ोर-आज़माइश करनी पड़ी है, और प्रतीक्षा के एक अन्य दौर के बाद, जो अभी भी लम्बी, अँधेरी गुफ़ा में घुसने और किसी कुर्सी पर जो कि उसकी शारीरिक मुद्राओं को आगामी तीन घंटे तक के लिए निर्धारित करेगी, जम जाने को आतुर है। किन्तु यही आदमी आपको अत्यंत अभागा मानेगा यदि आप ज्वार उठाती भीड़ में मुरझाएँ चेहरों का सामुद्रिक शास्त्र आँकते रह जाएँ।

यद्यपि इस दयनीय छोटे आदमी की अपनी पसन्द भी है, भले ही वह 'अधिकारों'

की सशक्त भाषा का प्रयोग नहीं करता। एक बात है, उसके किसी विशेष फ़िल्म
को देखने के पीछे एक पृष्ठभूमि है। इस पृष्ठभूमि की निश्चित रूप से एक विशाल
परास है और यह स्थल उसके भीतर जाने का नहीं है। किन्तु यह स्पष्ट दीखता है
कि फ़िल्म दर्शकों की स्थिति टी.वी. से नितांत भिन्न है— जिसे देखना है खतरनाक
रूप से अनिवार्य दर्शकीयता के निकट आता है। अवश्य यह दावा किया जा सकता
है कि टी.वी. दर्शक को टी.वी. चलाने अथवा इच्छा अनुसार बीच में बंद करने
का अधिकार है, किन्तु यह अपेक्षाकृत अल्पाहारों से भरे फ्रिज को किसी लोभी के
निकट छोड़ने और उसके अपनी भूख न मिटाने के विशेषाधिकार पर उपदेश देना
है। आप फ्रिज में रखे अल्पाहारों की गुणवत्ता लाक्षणिक रूप से बढ़ा सकते हैं,
अधिक वैविध्य कई चेनल तथा केबुल श्रृंखलाएँ भी जोड़कर, किन्तु यह तथ्य बचा
रहता है कि भूखखड़पन के विरुद्ध कोई गारंटी नहीं होती।

सिनेमा तथा टी.वी. में संशोधनवाद का लक्ष्य कई बार गंभीरतापूर्वक ऐसी परिचालानात्मक
प्रतिभूतियों की खोज तथा उन्हें गढ़ने का रहा है। सिनेमा के पीछे संभवतः यह
पृष्ठभूमि है जिसकी तुलना अक्सर निष्क्रिय दिवास्वप्नों से की जाती रही है। किन्तु
तीन घंटे तक बिना रुके दिवास्वप्न देखने की मशक्कत की कल्पना कीजिये जबकि
उसके लिए भुगतान भी करना पड़ता हो। भले ही कोई दुस्साही व्यक्ति किसी साधना
में भली प्रकार लीन होने में सफल हो गया हो, उसकी बैचेनी भरी अपराधग्रस्त
चरम स्थिति की भी कल्पना कीजिये, जबकि स्वप्नदर्शी को अपनी अभिलाषा आत्मनिष्ठा
के अधिकांश सहित भाग लेना पड़ा हो। दूसरी ओर यदि आपने दर्शकों के चेहरों
को जबकि वे प्रदर्शन के पश्चात बाहर निकलते हैं, देखा है तो आप उनके चेहरों
पर उत्साहपूर्ण राहत को देख पाने से चूकेंगे नहीं। जहाँ आदमी स्वप्नदर्शी यथार्थ को
चेहरे पर चाँटे की तरह लेता है, एक दर्शक घटना के पश्चात यथार्थ को ग्रहण
करने के लिये लगभग बेहतर रूप से तैयार दिखाई देता है। और तब भी सर्वाधिक
कट्टरपंथी भी दावा नहीं करेगा कि वह यथार्थ का सामना करने के लिए लगभग
बेहतर रूप से सज्जित होने की व्यवहारिक ज़रूरत के तहत फ़िल्म देखता है। ठीक
यही कारण है कि हम फ़िल्म के अति प्रबल सम्मोहन के आगे हार मानते हैं।

किन्तु यह सम्मोहन स्वयमेव स्वच्छ आकाश में एक साफ़-सुथरी उड़ान के ठीक समान
नहीं है। यह आघात, बैचेनी, थकान तथा विशुद्ध बोरियत के भी क्षणों से भरा है।
आप एक ऐसी फ़िल्म देखने पहुँच जाते हैं जिसका कि आप स्वाद भी न ले सकें
अथवा कहीं राहत के अवसरों के बाद आने वाले लम्बे उबाऊ प्रसंग हैं जो आपको
उससे बाहर निकल आने की छूट दे दें। वीडियो के मामले में, ऐसे अनेक उतार-चढ़ाव
पर जनता की निश्चित टिप्पणियाँ मिलती हैं। जब एक अन्य प्रकार से अच्छे
कथानक में किसी आकर्षण-विहीन, गले-भर से गाये गये गीत द्वारा बाधा पड़ती है,
परिवार के दर्शकगण एक-दूसरे की ओर सिर हिलाते हैं और ऐसे निरर्थक बोर क्षणों
को रिमोट-कंट्रोल द्वारा अपने पर्दों से तेज़ी से आगे बढ़ाकर हटा देते हैं। हम इसी
यंत्र-रचना का उपयोग नयी पीढ़ी को सैक्स अथवा हिंसा की अधिकता से बचाने
में भी करते ही हैं।

किन्तु ये सभी सिनेमाई सम्मोहन के केवल आकस्मिक अंश की ही रचना करतें हैं। इसका अधिक महत्वपूर्ण तथा सूक्ष्म पहलू तल्लीनता के भीतर स्थित हैं, जबकि दर्शक पहले ही आनंदपूर्वक मूर्छित है। यह शंकालु दिवा-स्वप्नदर्शी नहीं है जो किसी कोने में झिझकते हुए लज्जित होता है तथा भरे हुए हृदय से अपने पीड़ादायक प्रसंगों की परिकल्पना करता है। हमारा दयनीय छोटा आदमी वस्तुतः अपने आप में एक नायक का ही अंश है, जो गर्वपूर्वक भीतर आता है तथा अपनी समस्त स्वार्थी हठवादिता सहित एक सुनिश्चत निजी संतोष के दृढ़-मस्तिष्क स्वत्व का आधार रखता है। यदि यह आदमी सिनेमा-घर से अपराधग्रस्त, ओजहीन तथा दिन के प्रकाश से सतर्क दिखाई देता है बाहर आया होता तो इस लेख को लिखने की आवश्यकता नहीं थी बल्कि वह तो अपने अनुभव के संबंध में उत्साहपूर्वक मुखर दिखाई देता है इस लेख की शुरुआत के लिए एक विशाल, ठोस ज़मीन छोड़ता हुआ।
यद्यपि एकदम आरंभ में ही यह स्वीकार करना चाहता हूँ कि मेरे सभी या कम से कम अधिकांश दावे अथवा प्रश्न भारतीय तथा विशिष्ट रूप से हिन्दी सिनेमा से संबंधित है। मैं यह भी अवश्य स्वीकार करूँगा कि मेरे अथवा त्रुफ़ो को देखते हुए बड़ा नहीं हुआ हूँ तथा यद्यपि में उनका भली प्रकार आनंद लेता हूँ। मैं कालानुक्रम में हिन्दी फ़िल्मों की सामान्य गति का आनंद नहीं ले पाया हूँ, यद्यपि मेरी उनमें रुचि, अब बहुत आत्म-स्फूर्ति नहीं है तथा एक रोमाँचित, उत्तेजित उत्सुकता से जुड़ी हुई है। अंततः मुझे यह भी स्वीकार करने दें कि एक ख़राब निर्मित गोदार की फ़िल्म मनमोहन देसाई की एक कमज़ोर फ़िल्म की तुलना में मुझे बहुत अधिक कड़वाअनुभव कराती है।

यह संक्षिप्त आत्मकथात्मक क्षेपक-स्थल के विपरीत नहीं है। यह वस्तुतः उन कुछ विभेदों की भूमिका की रचना से निर्मित है जिन्हें मैं कुछ देर में सामने रखूँगा। सबसे पहले हिन्दी सिनेमा के निष्ठावान दर्शकगण तथा उनके तटस्थ अथवा दुराग्रही प्रतिरूप के मध्य एक विभाजन करने की आवश्यकता है जो मुश्किल से ही या तो सिनेमा-घरों या घरेलू पर्दे के सामने एक साथ होते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त एक बहुत छोटा वर्ग है जो वह देखना पसंद करता है जिसे हमने *नयी धारा का सिनेमा* अथवा *समांतर सिनेमा* नाम दिया है। जहाँ इन तीनों के मध्य थोड़ा संक्रमण हो सकता है, इनके मध्य जिसे मैं *सौंदर्यशास्त्रीय शत्रुता* कहता हूँ, की काफ़ी बड़ी मात्रा भी है। मैं *सौंदर्यशास्त्रीय शत्रुता* वाक्यांश का प्रयोग इन तीनों प्रकारों के मध्य तनावपूर्ण दरार को विशेष रूप से नाटकीय रूप देने के लिए कर रहा हूँ। वे असंख्य मीडिया-साक्षात्कार जिनमें नयी धारा तथा व्यावसायिक फ़िल्म निर्माताओं के पक्षधर एक-दूसरे के विरुद्ध आये हैं, निश्चित तौर पर मात्र अस्वीकार की अपेक्षा कुछ अधिक संकेत करते हैं। वस्तुतः प्रत्येक पक्ष दूसरे को अस्तित्वहीन बनाने की इच्छा करता लगता है। किन्तु यह दरार, यदि शत्रुता की वही सीमा नहीं है, अन्य अनेक अंतर्राष्ट्रीय फ़िल्म आंदोलनों के बारे में भी सही है। इस शत्रुता का अलंकार शास्त्र इतना सम्पन्न है कि मेरे पास इस विषय में कहने को नया कुछ नहीं है। मैं यद्यपि जिसे नाटकीय बनाना चाहता हूँ वह ठेठ अवमानना है जो

सिनेमा नयी धारा से चिपके हुए तथा हॉलीवुड-फ़िल्मों के दर्शकों से एक साथ हासिल करता है। इस नाटकीयीकरण में मेरा उद्देश्य लोकप्रियता का नहीं है। मैं एक निम्न बुद्धि क्षमता का बचाव, निपट-अज्ञान के लिए तर्क करके नहीं करना चाहता बल्कि मैं यह हिन्दी फ़िल्मों को समझने के क्रम में अनुभव करता हूँ उनके साथ सहानुभूति की निश्चित मात्रा आत्यन्तिक रूप से अनिवार्य है। यह सहानुभूति (यद्यपि मानसिक) न केवल *साधारण जन* की ओर बल्कि चरित्रों तथा परदे को घटनाओं की ओर भी उसी प्रकार निर्देशित होनी है। ये संरक्षित सहानुभूति इस प्रश्न से संपूरित हो सकती है जो यहाँ मेरी चिन्ता के ठीक केन्द्र में स्थित है— हिन्दी सिनेमा का मुख्य आश्रय अनिवार्यतः इसके सस्ते आडंबर से , अथवा इसी अधिक प्रमाणिक वस्तु से निर्मित है जो इसे लोकप्रिय भावना पर सुस्पष्ट , सुरक्षित पकड़ प्रदान करता है।

मेरे विचार का मुद्दा यह है कि हिन्दी फ़िल्मों का मुख्य आकर्षण अपने दर्शक की नैतिक कल्पना को उकसाने की उनकी क्षमता में स्थित है, ऐसा कार्य जिसे हमारे सार्वजनिक जीवन का कोई अन्य क्षेत्र इतने प्रभावपूर्ण ढंग से पूरा नहीं करता। एकमात्र तरीक़ा जिससे मैं इस छवि को प्रबलता से दिखा सकता हूँ, उस बातचीत को पुनर्प्रस्तुत करना है जिसे मैंने दिल्ली की एक बस देर रात उसके बेहद भीतरी हिस्सों से गुज़रते हुए सुना था। जब बस सबसे अधिक दड़बेनुमाँ, वाहियात सिनेमा-घरों में से एक के सामने रुकी तो नौजवानों का एक जत्था भीतर चढ़ आया और एक ज़बर्दस्त विवाद शुरू कर दिया। इस गंभीर वाद-विवाद का विषय था कि उस फ़िल्म का नायक जो संभवतः उन्होंने अभी देखी थी, अपने मित्र के कारण अपनी प्रेमिका की उपेक्षा करने में सही था अथवा नहीं। बाद में यह कोलाहल तुच्छतर विषयों की ओर मुड़ गया, वह विवाद मुझे *नायक* को परिभाषित करने की ओर लक्षित संवाद के प्रामाणिक प्रताप से परिपूर्ण लगा। किन्तु अधिक विध्वंसक अनुभूति यह थी कि उसमें ऐसे व्याख्यान का भारी द्वंद्वक्षेत्र था जो अब मेरी पहुँच में नहीं था सिवाय कुछ ऐसे भाग्यशाली अंशों के और जिन्हें मुझे बौद्धिक रूप से पुनर्रचित करते रहना होगा, जबकि मैं उसे प्रथमतः सुन नहीं सकता। मैं यह भी आश्चर्य करता रहा कि मेरे वर्ग, संस्कृति तथा पृष्ठभूमि के अन्य सदस्य भी ऐसे विवादों को तुच्छ, केवल बकवास तथा राष्ट्र के भविष्य के लिए अल्पहित का मानकर अस्वीकार कर देंगे। मैं उन फ़िल्म-निर्माताओं के संबंध में भी चुपचाप सोचता रहा जो आम आदमी के लिए सार्थक होने की इच्छा बिना उसे तथा उसके नैतिक एवं सौंदर्यशास्त्रीय मुहावरों सार्थक बनाया करते हैं।

मैं इस बिन्दु पर आगे भी ज़ोर देना तथा स्पष्ट करना चाहूँगा क्योंकि यह न केवल उनके लिए जो फ़िल्मों से संबद्ध हैं बल्कि ज्ञान तथा जन-मामलों की विभिन्न शाखाओं के विशेषज्ञों के लिए भी प्रासंगिक है। यहाँ पुनः एक उदाहरण अलंकारिकता के आधिक्य की बजाय अधिक कारगर होगा।

मुझे सचमुच कोई सटीक अनुमान नहीं है कि साठ तक कितनी हिन्दी फ़िल्में *भाभी* (बड़े भाई की पत्नी) की विषय-वस्तु पर बनी। मैं सुनिश्चित हूँ कि दो बड़ी फ़िल्में

भाभी तथा देवर पूर्णतः इस विषय-वस्तु को समर्पित थीं तथा एक बिन्दु पर यह सभी प्रकार की फिल्मों में फैला हुआ एक प्रकार का स्थायीभाव था। मैं जानता हूँ कि यह विषय-वस्तु अब शेष नहीं है किन्तु यह जानने की भी ज़रुरत है कि परिवार संस्था का एक बड़ा अंग पहले ही अप्रचलित अथवा प्राचीन हो चुका है। एक समय भाभी-देवर विषय-वस्तु के इर्द-गिर्द का भाव-नाटक इतने ज़ोर पर हुआ करता था कि यह किसी ख़त्म होने वाली चीज़ के जैसा बिल्कुल नहीं लगता था। अब अवश्य भाभी की भूमिका का नैतिक मूल्य सिस्टर-इन-लॉ की सरल अंग्रेज़ी तक घट गया है। महत्वपूर्ण तथ्य, हालाँकि, यह है कि जब परिवार की संस्था में यह भारी परिवर्तन शायद अदृश्य तथा हमारे लिए अप्रासंगिक था, यह उस मसाले का प्रकार है जिससे हिन्दी सिनेमा बना है तथा भाभी विषय-वस्तु उन असंख्य उदाहरणों में से एक है जो दिये जा सकते हैं।

उपरोक्त तथा बाद में उल्लेख किये जाने वाले कुछ कारणों से, मुझे अत्यंत महत्वपूर्ण, निष्ठावान तथा निष्ठाहीन दर्शकों के मध्य विभेद मिला है। जहाँ में उपरोक्त गद्यांशों में विवाद को दिल्ली की एक बस में अपने अनायास बोध के क्षण के साथ प्रायोगिक स्तर पर ले आया हूँ, मुझे इन आकाशीय उद्गमों की क्षणभंगुर प्रकृति का ज्ञान है तथा हिन्दी सिनेमा के विकासमान प्रकार्यों की एक अधिक स्थायी पुनर्रचना को प्रस्तुत करना आवश्यक है। इस पुनर्रचना का भारतीय संस्कृति का पश्चिमी संस्कृति के साथ सतत् निकट-स्थापना तथा संघर्ष से बहुत कुछ लेना-देना है। वास्तविक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं तथा उनकी समृद्धि को छेड़ते हुए, मैं दो शैलियों को उदाहरण स्वरूप सामने रखूँगा जिनमें भारतीयों ने एक आक्रमण के प्रति प्रतिक्रिया की जो कि धमकी देता केवल दहलीज़ पर प्रतीक्षा नहीं करता रहा बल्कि उनकी आत्माओं के भीतर तक घुस आने की घुड़की देता रहा। पहली व्यूह रचना पूरी तरह पश्चिमी स्थापनाओं से बदल तथा भारतीय संस्कृति के तत्वों को उच्चतम सीमा तक स्वीकार करने की तथा दूसरी, भारतीय स्थापनाओं को बनाये रखने तथा उसमें पश्चिमी तत्वों को स्वीकार करने की, जिनसे कोई गंभीर क्षति न होती। हिन्दी सिनेमा ने हालाँकि दोनों में से किसी भी उहाहरण का अनुसरण किया हो, ऐसा नहीं लगता। बहुत कुछ देहाती पांडित्य-दंभ के तरीक़े से इसने दोनों उदाहरणों से असमान तत्व ग्रहण किये तथा बिना छत के महल खड़े किये, कई बार बिना दरवाज़े या खिड़कियों के या अक़सर बिना खंभों के जो कि सूक्ष्म छानबीन में ढ़ह जाते। ये असंगत किन्तु साहसिक निर्माण, इन महलों का लक्ष्य उस दर्शक को आश्रय अथवा सुरक्षा देना था जो कि उपवर्णित उदाहरणों में से किसी का भी नहीं था। हिन्दी सिनेमा का मूल कर्त्तव्य, इस प्रकार आम आदमी को स्वर्ग प्रदान करना था और न कि पूर्व या पश्चिम का बचाव करना।

यह कुछ सीमा तक स्पष्ट कर देता है कि क्यों यह सिनेमा अपने-आप को एक ही जगह दिला सका, जर्जर स्थलों को आरंभिक बिन्दुओं के रूप में काम में ला सका तथा अब अपनी खुद की दुनिया रचने में सफल हुआ है जो कि भारतीय यथार्थ से, जिस रूप में हम उसे जानते हैं, पारदर्शी रूप से सम्बद्ध नहीं ...

इन फ़िल्मों के चरित्रों के उपनाम मुश्किल से ही होते हैं, वे केवल विजय अथवा
मीना कहे जाते हैं तथा किसी जाति के नहीं होते, बहुत बार आप यह भी नहीं
कह सकते कि वे उत्तर प्रदेश से हैं अथवा मध्यप्रदेश से (बढ़ती हुई संख्या में
अब वे बम्बई के अपने ही होते हैं, जैसे 'सिनेमा का घर' नायक का तथा नायिका
का घर भी होना ही चाहिए), वे जंगलों में तथा अपनी कल्पना की वादियों में
गीत गाते घूमते हैं, तथा अंततः वे जितने अधिक ग़रीब होते हैं, उतने ही ख़ूबसूरत
तथा बेहतर परिधान-सज्जित।
आश्चर्य नहीं कि भारतीय फ़िल्मों का यह आघातकारी अयथार्थ एक दर्शक के लिए
गंभीर विचलनों का कारण बनता है जो कि निष्ठाहीन है तथा जो अपनी मौलिक
चित्तशांति को बनाये रखने के लिये हॉलीवुड की फ़िल्म की ओर भागता है। यह
भी आश्चर्य नहीं, जब कोई अंग्रेज़ी अख़बार अथवा पत्रिका का समीक्षक किसी
श्रेष्ठ *मनोरंजन* की अनुशंसा करता है, वह केवल व्यंग्यपरक ही होता है।
किसी भी मूल्य पर हमें यह अनुभव करना ही होगा कि श्रद्धावान दर्शक-वृन्द का
एक औसत सदस्य हिन्दी फ़िल्मों की नर्क-समान प्रकृति को संभवतः पूर्ण रूप से
जानता है। वस्तुतः वह इसे चलताऊ ढंग से लेता है। ऐसा लगता है कि यदि
आप आश्चर्य की इस भारी मात्रा को उसी भाँति लेते हैं तो हिन्दी फ़िल्में आपके
लिए विशिष्ट संतोष के प्रवेशद्वार तुरन्त खोल देती हैं। तब विरोधाभास-स्वरूप, इस
अयथार्थ की आंशिक स्वीकृति हिन्दी सिनेमा के यथार्थ को अनायास सुगम बना देती
है। तब भी एक और विरोधाभास है— ऐसा दिखाई देता है कि इस *फ़िल्मी* अयथार्थ
का भय अन्ततः घोर अशिक्षा का ही एक रूप है।
इस अशिक्षा की सीमारेखाओं से गुज़रते हुए, यह प्रश्न बहरहाल उभरता है—
सिनेमाई यथार्थ की एक नर्क-सम प्रकृति सहित, यह कैसे जनप्रिय नैहतिक चिन्तन
पर पकड़ बनाने में सफल होता है? उत्तर संभवतः तथाकथित *बम्बई या हिन्दी फ़िल्म*
फ़ॉर्मूला में निहित है। मैं इसे एक फ़ार्मूला कि बजाय एक व्यूहरचना पसंद करूँगा
क्योंकि मैं अनुभव करता हूँ कि ऐसा कोई प्रचलित कठोर फ़ार्मूला नहीं है तथा
स्वयं व्यूह रचना विशुद्ध अथवा पारदर्शी होने से दूर है।

वह सरलतम तरीक़ा भी, जिसमें मैं इस व्यूह रचना को निरूपित कर सकता हूँ,
एक ख़ाके की माँग करता है जो अल्फ़्रेड शुल्त्ज़ अपनी रचना 'जीवन-विश्व की
संरचनाएँ' (Structures of Life-World)) में प्रस्तुत करते हैं। वे एक विस्तृत
मानचित्र का प्रस्ताव करते हैं जिसके द्वारा कोई अकेला मनुष्य अपने दैनिक जीवन
में व्यवहार करता है। लोगों तथा अपने एकदम आसपास की संस्थाओं से आरंभ
करके, किसी बिन्दु पर वे हीनतर विश्वों का भी सामना करते हैं यथा एक राष्ट्रीय
सरकार अथवा कोई बाहरी देश और संभवतः अपनी मुख्य चिन्ताओं की सीमारेखा
पर एक उड़नतश्तरी का भी। शुल्त्ज़ के अनुसार महत्वपूर्ण रूप से, चिन्ता के एक
स्तर से दूसरे पर जाते हुए व्यक्ति एक सहज यात्रा नहीं करता और वस्तुतः, एक
'आघात' से गुज़रता है जो कि उसे एक भिन्न परिप्रेक्ष्य में धकेल देता है।
मैं अल्फ्रेड शुल्त्ज़ के इस मानचित्र को कुछ संशोधित रूप में उधार लेने की

आवश्यकता अनुभव करता हूँ, जबकि मैं इसका एक अति विशिष्ट अनुप्रयोग करने जा रहा हूँ। प्रक्रिया के भीतर मैं संभवतः इसके महत्व को हल्का कर जाऊँ किन्तु दूसरी ओर मैं उनकी स्थापनाओं के अधिक सामान्य अनुभूतिपरक प्रासंगिक के दावे का बोझ उठाने की आवश्यकता अनुभव नहीं करता।

विभिन्न स्तरों को भूमिका के रूप में लेने पर, मुझे लगता है कि हिन्दी फ़िल्में मूलतः अपने दर्शकों के लिए, जिसे कहा जा सकता है, 'यथार्थ को पालतू बनाने' का प्रयास करतीं हैं। अनुभूतिपरक व्यूह रचना के रूप में यथार्थ के पालतू-करण को संकीर्णतर की पदावली में वृहत्तर यथार्थ को समाहित करने के प्रयास के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, जब हमें अपने राष्ट्र को देशज रूप से *मातृभूमि* कहते हैं, हम एक संकीर्ण पारिवारिक पद, नामतः माँ के भीतर एक महत्तर यथार्थ को ग्रहण करते हैं। यह अपने आप हमें यथार्थ के विकार के रूप में नहीं दिखाई देता जब तक कि हम शब्द *राष्ट्र* को एकदम ख़ारिज नहीं करते तथा गंभीरतापूर्वक, बारम्बार इसे *मातृभूमि* से प्रतिस्थापित करना आरंभ नहीं करते। हिन्दी फ़िल्में नियमित रूप से यह *ग़लती* करती हैं। किन्तु उस अधिकारपत्र के कारण जिसका कि वे लगातार उपभोग कर रही हैं, बच निकलने में सफल हो जाती हैं। इस अधिकार-पत्र का दावा दर्शकों की आसपास के शीतल अवैयक्तिक जगत् के अपरिचित यथार्थ को पालतू बनाये जाने की आवश्यकता द्वारा उचित ठहराया जाता है। यह उस हर किसी के लिये आवश्यक है जिसके बुनियादी जीवन-अर्थ अपनी पत्नी, अपने पुत्र, अपनी माता अथवा अपने बहनोई के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं, संभवतः काम करने के स्थान से उल्लेखनीय रूप से, परन्तु किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन अथवा बर्लिन की दीवार के आसपास की घटनाओं से भी, मुश्किल से ही। यह निरीक्षण या तो एक आत्म-सम्मोहक लोकप्रियता की ओर अथवा एक पतनशील, यहाँ तक कि लोकप्रिय चेतना के प्रति अपमानजनक दृष्टिकोण की ओर अग्रसर हो सकता है। मैं इनमें से किसी पक्ष में नहीं हूँ, मुख्यतः इस कारण कि मुझे लगता है पालतू बनाने की प्रक्रिया स्वयं ही ऐसे दैत्याकार अनुपातों को ग्रहण करती है कि वह ऐसी मिथकीय सामर्थ्य अर्जित कर लेती है जो कि बर्लिन की दीवार को भी ठीक किसी अन्य घटना की तरह लगने वाली बना देती है। उदाहरण के लिए जब किसी फ़िल्म का नायक अपनी निर्दोषिता की वकालत के लिए अदालत में खड़ा होता है, वह अपने आसपास एक ऐसा प्रभा-मण्डल रचने में समर्थ है जो कि स्वयं उसके-अपने लघु जीवन-आकार से बहुत बड़ा हो जाता है। दर्शक इसमें उसके साथ बह जाता है। पारिवारिक नाटक का अंतरिक्षीय महत्व के साथ यह विलयन किसी भी तरह से आश्चर्यजनक नहीं है।

किन्तु प्रश्न यह है कि यह चमत्कार ठीक-ठीक कैसे किया जाता है? यह सम्पूर्ण विवेचन अन्ततः इसी मूलभूत प्रश्न की ओर उन्मुख है। और, क्या हम किसी उत्तर की ओर ज़रा-भी चले हैं?

पुनः समझने के लिए, मूल स्थिति इस प्रकार है: स्वयं अपनी अथवा पश्चिमी परम्परा के दबाव से उभरी एक वास्तविक नैतिक समस्या एक अनिर्मित मंच के नर्क

में रख दी गयी है। किन्तु तब यह नैतिक मुद्दा कैसे निबटाया जाता है तथा किस प्रकार का उपचार इसे मिलता है? इस प्रश्न के लिए मेरा विश्रृंखलित उत्तर यह



है कि हिन्दी फ़िल्में किसी विशिष्ट नैतिक समस्या का समाधान नहीं देतीं अथवा किसी भी मूल्य पर उनके उत्तर वे नहीं हैं जो दर्शक को इतना अधिक आन्दोलित करते हैं, जिस तरह से कि समस्याएँ सामने रखी जाती हैं। वे बहुत आसानी से नैतिक उलझनों को लोकप्रिय चेतना के लिए ग्रहणशील बना देती हैं। कोई व्यक्ति जिस प्रकार समान समस्या को सुलझाता है वह निश्चिततः कहानी-आदि के विभिन्न विवरणों, लचकों तथा मोडों से प्रेरित है, किन्तु केवल दर्शकों की नैतिक कल्पना को उत्तेजित करने के अर्थ में।

यह एक महत्वपूर्ण बिन्दु है तथा मैं इसे स्पष्ट करना चाहूँगा। नवीनतम हिट फ़िल्म **मैंने प्यार किया** में, किशोर प्रेमी-युगल अचानक एक अन्य किशोर खलनायक से टकराता है जो उन्हें सार्वजनिक रूप से चुनौती देता कि वे सिद्ध करें कि उनका प्रेम कामानुभूति से निर्दोष है। यह ऐसे होता है कि वे अपने अतिशय भोलेपन में अपने *केवल मित्र* होने में विश्वास करते हैं, जो कि वस्तुतः एक आम बहाना तथा उन नितांत कपोल-कल्पित दुर्वादों के लिए एक आवरण है जो अफ़वाही-पत्रिकाओं में छपते हैं। हिन्दी सिनेमा में संभवतः पहली बार, युवा प्रेमियों को प्रेम के वास्तविक अर्थ की समस्या से जूझना पड़ा है। वे अचानक एक-दूसरे के प्रति असहज हो जाते हैं तथा एक विस्फोटक भय का आभास वातावरण में फैल जाता है। किन्तु शीघ्र ही नायक अपने मित्र को यह चिट्ठी लिखने का साहस जुटा लेता है कि वह सुनिश्चित करे कि क्या उनकी भावनाएँ पवित्र मित्रता के अतिरिक्त और भी कुछ है। फ़िल्म में अवसादपूर्ण, गीतात्मक शॉटस् के द्वारा आप पकड़ सकते हैं कि बेचारी छोटी-सी लड़की अपने बालक मित्र को इतना अधिक चाहती है कि कामुकता के रोमिल दैत्य की उपस्थिति त्रासदिक रूप से स्वीकार करनी होगी। जो है सो अच्छा।

अब तुरन्त एक कपोत का प्रवेश होता है— संदेश देने के लिए तथा किसी भी रूबरू संवाद को बचाने के लिए— दर्शक पक्षी की नायकीय उड़ान द्वारा प्रफुल्लित हो जाता है जो लड़के को खोज निकालता है तथा एक आस्थाहीन दर्शक समुदाय का सदस्य इस कपोतमानसिक श्रृंखला से इतना आहत क्यों अनुभव करता है कि चुपचाप सिनेमा पर से बाहर निकल जाये। किन्तु यदि वह कार की पिछली सीट पर उत्कट काम-क्रीड़ा के हॉलीवुड-संस्करण को मानसिक रूप से अधिक परिपक्व पाता है, तो मैं केवल अपना आश्चर्य ही व्यक्त कर सकता हूँ।

इस श्रृंखला पर पुनः वापस जाते हुए मैं यह भी उल्लेख करना चाहूँगा कि खलनायक चुनौती देने से पहले, नायिका से बलात्कार का भी प्रयत्न करता है, जो कि निश्चय ही दर्शक को थोड़ा-बहुत ललचाने के लिए दिखाया गया है। इस घटनाक्रम के सहारे हम देखेंगे कि कैसे एक वैध समस्या बलात्कार-तत्व तथा कपोत-तत्व से सम्पृक्त की गयी है। बलात्कार-तत्व अपने ललचाने वाले कार्य के अतिरिक्त नैतिक समस्या को भी काम-संबंधी नियमों के प्रक्षेपण द्वारा गहराने के लिए है। कपोत-तत्व यद्यपि स्वेच्छाचारी तथा अधिक से अधिक एक अस्पष्टता का एक वास्तविक साधन के रूप में प्रयोग है।

कुल मिला कर यही लगेगा कि इन तीन तत्वों के मध्य एक ऐसा निकट, अविभाजेय स्तरण है कि आप आसानी से यथार्थ को अयथार्थ से अलग नहीं कर सकते, नैतिक तनाव का समाधान सूक्ष्म स्तर पर अस्पष्ट तरीक़े से सम्पन्न होता है तथा इस संक्षिप्त घटना के लिए कोई स्वाभाविक नीतिगत कारण नहीं दिखता।

तव एक दार्शनिक स्तर पर, हिन्दी फ़िल्म के नर्क में, बलात्कार, चुनौती तथा कपोत एक ही स्तर पर तथाव समान रूप से वास्तविक हैं। यथार्थ को पालतू बनाने की पदावली में नन्हीं सी चिड़िया ने वलात्कार के दैत्य को अच्छी तरह से पालतू बना लिया है तथा काम-भावना का कटु यथार्थ उन्हें उसके ऊष्ण, सुखकारी पंखों के तले ले गया है। किन्तु प्रश्न है, क्या हम यह भी दावा कर सकते है कि दर्शक भी, जो कि हिन्दी फ़िल्मों के नर्क-समान अनुभव से गुज़रता है, समान दार्शनिक स्तर से सम्पन्न है। उत्तर है— बिल्कुल नहीं, चूँकि वह मन्दबुद्धि नहीं है तथा किसी हिन्दी फ़िल्म को देखने का अनुभव अस्थायी आयोजन है जिसे स्थायित्व में नहीं खींचा जाना चाहिये। केवल इसी एक कारण से जहाँ एक आस्थावान् *असंगत स्वप्रकथाओं* की मार-काट से अविचलित रह सकता है, वह फ़िल्म द्वारा प्रदत्त नैतिक राहत का आनन्द उठाने में भी समर्थ है। दूसरी ओर आस्थाहीन दर्शक पाता है कि जहाँ उसकी सहज विश्वसनीयता को गंभीरतापूर्वक खींचा जाता है, सारी कसरत में किसी भी तरह से बहुत अधिक सार नहीं है, चूँकि वह फ़िल्म में प्रदर्शित नैतिक तनाव में सहभागी होने में असमर्थ अनुभव करता है। उसकी सहभागिता में असमर्थता के अर्थ में, सम्बद्धता स्थापित करने अथवा समझने में भी कि श्रद्धाहीन दर्शक हिन्दी सिनेमा से असम्पृक्त बना रहता है, भले ही वह एक अथवा दो फ़िल्में देखने के लिये राज़ी हो जाये। (मैं अपने आयु वर्ग के लोगों को जानता हूँ जो *चित्रहार* के लती हैं किन्तु एक पूरी फ़िल्म का आनन्द वे नहीं उठा सकते)।

अब प्रश्न है, समाजशास्त्रीय रूप से आस्थावान तथा आस्थाहीन दर्शकों को अलग-अलग स्थिति दी जाती है? यहाँ सांस्कृतिक पृथक्करण निश्चित रूप से किसी आर्थिक वर्ग-विभाजन का सहभागी नहीं है। *भारत विरुद्ध इण्डिया* का तर्क-द्वन्द्व भी लागू नहीं होता, जैसा कि स्पष्ट होगा। इसके बदले मैं विभाजन के निम्नलिखित समुच्चय प्रस्तावित करता हूँ:

1. देशज संस्कृति
2. अनुकरण-संस्कृति
3. फ़िल्मी संस्कृति

देशज संस्कृति नामक प्रथम में उन रूपों तथा कथा' वस्तुओं का समावेश होगा जो विशिष्ट सामाजिक स्थितियों में खोजे जा सकते हैं।

अनुकरण-संस्कृति में उन तत्वों का समावेश हो सकता है जिनके स्रोत विदेश में अथवा सामान्य से बाहर, आसान पहुँच में ढूँढे जा सकते हैं।

तीसरा फ़िल्मी संस्कृति नामक वस्तुतः एक महा-संस्कृति है जो निम्नलिखित पूरकों से निर्मित है:

1. रंगमंच

3. संगीत
4. कविता
5. साहित्य

यह दावा कि हिन्दी सिनेमा एक महा-संस्कृति रचना करता है तथा इन सभी दैत्याका तत्वों से बना है, न तो उपहास-परक है, न ही यह सारा प्रकरण केवल व्यंग्य है कठोरतापूर्वक कहा जाये तो हिन्दी सिनेमा के सम्बन्ध में बहुत थोड़ा है जो सिनेमाई है। इसका अधिकांश रंगमंच, संगीत तथा काव्यात्मक प्रयत्न है। अतिरिक्त रूप से यदि आप गुलशन नंदा, समीर तथा राजवंश के लिखे लोकप्रिय हिन्दी उपन्यासों की ओर देखें, वे सभी उन फ़िल्मों से अधिक नहीं लगते जो कभी बनी ही नहीं। यहाँ यह उल्लेख प्रासंगिक है कि लोकप्रिय एवं जन संस्कृति के अभिप्रायों को औ विभाजनों से समृद्ध करना आवश्यक है जो हमें नयी दिल्ली में आयोजित छाऊ-उत्सव जैसी किसी घटना के संचालक-सिद्धांत को समझने के योग्य बनायेगा, जहाँ लोग इसकी तीन विभिन्न उप शैलियों के मध्य भी अन्तर करने को उत्सुक हैं। यह भी कि फ़िल्मी-संस्कृति स्वयमेव एक शाश्वत् गतिशीलता से होकर गुज़र रही है, अन्य दो संस्कृतियों से तत्वों को ग्रहण तथा पुनर्ग्रहण करते हुए। जहाँ देशज-संस्कृति ने सिनेमा से अति की सीमा तक उधार लिया हो सकता है (बिहार में नौटंकी तथ महाराष्ट्र में तमाशा), यह केवल अनुकरण-संस्कृति है जो अलग-थलग खड़ी है यह इस अर्थ में कि जैसे भारत में केवल एक उधार की *जन-संस्कृति* है जो कि जन-संस्कृति नहीं कही जा सकती क्योंकि यह केवल एक अल्पवर्ग तक सीमित है।

किन्तु यह सम्पूर्ण मानसिक पुनर्परीक्षण अपूर्ण ही रहेगा यदि हम हिन्दी फ़िल्मों के ठोस, विषय वस्तु गत पक्ष की जाँच नहीं करते तथा *फ़ार्मूला फ़िल्म, मसाला फ़िल्म* जैसी लोकप्रिय शब्दावली में झाँक कर नहीं देखते। गंभीर अवधारणाओं के विपरीत इन शब्दों से सुस्पष्ट अर्थवान् होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती किन्तु बिना उन पर प्रकाश डाले हमारा काम नहीं चल सकता।

यथा फ़ार्मूला के अभिप्राय हेतु, भारतीय सिनेमा के इतिहास पर केवल एक सरसरी दृष्टि ही संकेत कर देगी कि समयांतराल में, इन फ़िल्मों की विषय वस्तुगत परिधि उल्लेखनीय रूप से संकीर्ण हुई है। यह सर्वाधिक उपयुक्त के बचे रहने के प्रकरण जैसा ही है। पर्याप्त आश्चर्यजनक रूप से, शब्द *फ़ॉर्मूला* विषय वस्तुओं के सबसे सामान्य समुच्चय में एक झुकाव की ओर संकेत करता है, बजाय एक घोर अपरिवर्तनीय के नियमानुसार फ़ॉर्मूले की खोज फ़िल्म के सफल होने के पश्चात् होती है और न कि इसके विपरीत। एक नया फ़ॉर्मूला केवल तभी खोजा जाता है जबकि अपरिवर्तनीय में गंभीर रूप से मिलावट की जाती हैं तथा दर्शक इसे पसंद करत है। गंभीर अध्येता ऐसी अवधारणा से भ्रमित हो सकते हैं जो कि व्यवसाय मे प्रचलित है, और इसलिए सावधानी का ध्यान रखा जाना चाहिए।

शब्द *मसाला* का अर्थ है मारधाड़, संगीत, रोमांस तथा हिंसा-जैसे तत्वों का मिश्रण इसमें से कुछ भी छोड़े बिना। यह शब्द फ़िल्म के विषय वस्तुगत पक्ष की बजाय मुहावरे से अधिक सन्दर्भित है। जहाँ शब्द *फ़ॉर्मूला* थोड़ा-सा ...



अधिक नाटकीय, बल्कि अप्राकृतिक शब्द है।
अधिक नाटकीय, बल्कि अप्राकृतिक दोहराव का आरोप लगाया जाता है, हमारे मस्तिष्क
कई बार जब हिन्दी फ़िल्मों पर दोहराव होते हैं। ये धारणाएँ केवल यह संकेत करती हैं कि
में *फ़ॉर्मूला* तथा *मसाला* शब्द होते हैं। तथा अपने दर्शक की ओर देखता है। यह निश्चित
कैसे हिन्दी सिनेमा स्वयं अपनी तथा अपने दर्शक की ओर ऐसी भी जो कि वित्तीय वास्तविकताओं से
तौर पर एक सनक-भरी दुनिया है, किन्तु ऐसी फ्लॉप होने वाली अथवा अंशतः बनी फ़िल्मों की
बेहतरी प्राप्त करती है, हर वर्ष दर्शक की अवमानना पर कम तथा फ़िल्म-निर्माण के
संख्या सीमित ... सनक दर्शक की बात के पक्के प्रमाण हैं कि हमारे मनमोहन
... आधारित हैं तथा इस बात के

देसाई किसी फ़िल्म पर अपना आख़िरी पैसा भी लगा देंगे बजाय साबुन अथवा ऐसे ही अन्य किसी उद्योग के।

यदि हिन्दी सिनेमा का यह सम्मोहन इसके दोहराव में निहित है तो दोहराव का तत्व स्वयं भी निकट से देखे जाने का अधिकारी है। यहाँ मैं उम्बर्टो ईको के दोहराव पर लिखे लेख का उल्लेख करना चाहूँगा, जहाँ वे खण्डन करते हैं कि दोहराव तथा नवीनता को उस तथ्य के प्रकाश में जिसे वे पश्च-पश्च आधुनिक सौंदर्यशास्त्र कहते हैं तथा जिसे टी.वी. शृंखलाओं के युग में अनिवार्य रूप से एक-दूसरे के विरुद्ध रखकर देखा जाना चाहिए! जबकि हम भारत में इस युग में पूर्णतः न पहुँच पाये हों, जहाँ परिचय तथा प्राचीनता पहलू-दर-पहलू खड़े हो सकते हों, बजाये चेहरा-दर -चेहरा, यह ठेठ तथ्य, कि हम टी.वी. रामायण तथा महाभारत से पहले ही गुज़र चुके हैं, हमारे उस तरीक़े को अवश्य प्रभावित करेगा जिससे हम हिन्दी फ़िल्मों की ओर देखते हैं। संक्षेप में इस बारे में हमारा सबसे महत्वपूर्ण कार्य हिन्दी सिनेमा तथा टी.वी. शृंखला पर लागू होने वाले दोहराव सिद्धांत के मध्य अन्तर करना होगा। यह कार्य क्रमशः पूरा नहीं हो पायेगा यदि (क) हम हिन्दी फ़िल्मों की कम से कम एक अस्थायी प्रकारविधि नहीं बनाते, तथा (ख) हम उस ऐतिहासिक सैर का कम से कम एक सारांशमत विकसित करने में समर्थ नहीं होते जिससे कि यह आरंभ से अब तक गुज़र चुका है।

मैं यहाँ एक प्रकार की नख-शिख प्रकारविधि प्रस्तुत करूँगा तथा शीघ्रतापूर्वक (ख) की ओर आगे बढ़ूँगा जो मुझे अधिक चुनौतीपूर्ण कार्य लगता है, और जिस पर हमारा दोहराव का मत सीधे-सीधे निर्भर करता है। यह प्रकारविधि निम्नानुसार हो सकती है:

1. धार्मिक विषय-वस्तुएँ
2. पौराणिक, ऐतिहासिक विषय-वस्तुएँ
3. सामाजिक द्वंद्वात्मक विषय-वस्तुएँ
4. पारिवारिक नाटक
5. हास्य तथा स्वाँग
6. रोमाँस
7. मारधाड़
8. विदेशी परिकल्पनाएँ
9. रहस्य
10. अभी तक चली आ रही 70-90 की धुआँधार फ़िल्में

धुआँधार फ़िल्मों को इस सूची में बनाये रखते हुए, मेरा इरादा यह भी है कि इसे शेष सब प्रकारों के लिए विकासमान अन्तिम कोश के रूप में सामने रखूँ। इस बात का दावा नहीं है कि धुआँधार सफल फ़िल्में आवश्यक रूप से सभी प्रकारों को अपने गर्भ में सुरक्षित रखती है, बल्कि यह भी कि इसने उनकी एक काफ़ी बड़ी संख्या का शील भंग किया है तथा आदमख़ोर बनाया है। यदि कुछ प्रकार मृत नहीं हुए हैं, वे प्राचीन के मृतप्राय अवशेष ही रहे हैं। इस सबका कारण धुआँधार सफल फ़िल्मों की व्यूह रचना इन सभी प्रकारों के समीकरण तथा सभी

प्रकार के दर्शक-समूहों नामतः विशाल परिवार, युगल, पड़ोसियों के झुण्ड, विद्यार्थी समूह, युवा अविवाहित युगल, मिश्र समूह (लड़के-लड़कियाँ) साथ ही साथ अकेले व्यक्ति में जो कुछ भी सामान्य है उसे केन्द्रीय रूप में प्रस्तुत करने को रही है। इस प्रकार की फ़िल्मों के लिए किसी को दर्शक संगठन क्षेत्र की अधिक चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है तथा वह दर्शकों को सर्व-सम्मिलित श्रेणी के संबंध में खुला व्यवहार कर सकता है।

प्रश्न है क्यों हिन्दी सिनेमा में ठीक-ठीक किस प्रकार का दोहराव मिलता है। ... संकेत यह है कि राजेश खन्ना की **अपना देश** से अमिताभ बच्चन की **शहंशाह** तक नायक के व्यक्तित्व का संचयी विकास प्रतिद्वंद्वी के साथ-साथ रहा है। अमिताभ बच्चन के पतन के बाद जो कुछ हो रहा है वह पूरी तरह से एक भिन्न कहानी है। ... **शहंशाह** को विश्लेषित करते हुए, ऐसा लगेगा कि **अपना देश** का लगभग मस्तमौला, रोमांटिक, विद्रोही धीरे-धीरे एक दीर्घ काय शरीर में बदल गया और तब अचानक ढेर हो गया। दूसरी ओर पिछले जमाने का मात्र स्मगलर एक ... प्रतीक में बदल गया, जो सभी प्रकार के क्षेत्रों में अन्याय तथा भ्रष्टाचार के पक्ष में खड़ा है, एक तरह का माफ़िया सरदार/राजनीतिज्ञ/नौकरशाह/न्यायाधीश बनता हुआ। ... में सारी चीज़ें एक में गोल-मोल हो गयीं। दृढ़तापूर्वक कहा जाये कि इस प्रकार हिन्दी सिनेमा निश्चित तौर पर दोहराव का प्रसंग है तथा हम अभी तक एक सादे रास्ते को दोहराते आये हैं।

दूसरी ओर यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि एक चरित्र, यथा **गोपीचंद जासूस** किसी गंभीर विस्तार की प्रक्रिया अथवा अपने व्यक्तित्व के विकास से गुज़रता है। ... कई स्थानों पर पड़ाव डालता हुआ भी वही चरित्र बना रहता है। दोहराव के दो प्रकारों में ... विपरीत स्थिति ऐसा आभास दे सकती है कि भारत में वर्तमान दर्शक समुदाय दोनों से ही आनंदित होता है तथा उनके मध्य चुनाव करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

किन्तु कुछ गंभीर कारण है कि क्यों सिनेमाई दोहराव का प्रकार समस्या में, लगभग एक अंधे मोड़ पर पहुँच गया। हम *दोहराव* के लिए व्यावसायिक कारण ढूँढने के अभ्यस्त हैं तथा इस प्रकार हम इस विकास के लिए भी कुछ और व्यावसायिक कारण ढूँढ ही लेंगे। किन्तु तथ्य यह है कि मूल कारण उन सांस्कृतिक, राजनीतिक परिवर्तनों के भीतर निहित है, जिनसे हमारा समाज इस मध्य होकर गुज़रा है।

... पालतू बनाने की व्यूह रचना की ओर लौटने पर आभास होता है कि एक बिंदु ऐसा आया कि जब हिन्दी सिनेमा ने पालतू न बनाये जा सकने वाले को भी पालतू बनाने का प्रयास आरंभ कर दिया। जब तक हिन्दी सिनेमा का संसार छोटा सा था तथा वह समाज एक स्थान पर राज्य प्रशासन के विभिन्न स्थानीय प्रवक्ता तथा प्रतिनिधियों से व्यवहार करता था वह इस कार्य को थोड़ा-बहुत संभाल सकता था। किन्तु ऐसा लगता है कि आपातकाल के बाद हिन्दी सिनेमा का प्रत्यक्ष राजनीतिकरण हुआ, जिसका चरम संभवतः **शहंशाह** में हुआ। पालतू बनाने की प्रक्रिया, जो कि ... न होने वाले की ... की कोशिश ... से चुकी थी ...

चुकी थी तथा एक विशेष रूप से हिंसक प्रकार की नैतिक अनेकान्तता को जन्म दे चुकी थी, से विकसित एक दर्शक को स्वीकार नहीं था। समाज को बदल डालने के गतिमय नारे के आसपास एक संश्लिष्ट सूत्र बुना जाना आसान [illegible] किन्तु हिन्दी फ़िल्म के मुहावरे में प्रत्यक्ष तथा याथार्थवादी राजनीतिक गतिविधि के लिए कोई स्थान नहीं है। तब एक नयी लहर की आवश्यकता और [illegible] यही कारण है कि अमिताभ बच्चन के कैरियर का काल्पनिक महान [illegible] एक बर्बादी में बदल गया जो फिर दुबारा लौट सकती है।

टी.वी. शृंखलाएँ भी निश्चित रूप से यथार्थ को पालतू बनाने का एक तरीका है।



किन्तु महत्वपूर्ण रूप से इस दोहराव के इस प्रकार में चिंताओं के स्तर विभाजित
हैं तथा एक सर्वांग संपूर्ण सतत् प्रक्रिया में पिछड़ी हुई दुनियाओं को पास रखेगा
की सूक्ष्म चिंताओं में पूर्ण रूप से समाहित करने का कोई प्रयास मुश्किल से ही
है। टी.वी. शृंखला शुरुआत से स्तरों को विभाजित करती है तथा उन्हें छिन्न-भिन्न
कर देती है यह बिखराव जीवन की उस शैली से सहमत होता है जो कि खण्ड-खण्ड,
अनिरंतर है तथा जीवन परिप्रेक्ष्यों को एक-दूसरे से खींचकर अलग कर देता है।
यह सभी विश्लेषणात्मक तथा साथ ही साथ विचार-योग्य मुद्दे इस दावे के लिए
नहीं है कि हिन्दी फ़िल्में एक अंधे मोड़ तक आ चुकी हैं। इसके लिए विभिन्न
खुली व्यूह रचनाएँ हैं और उनका नये सिरे से विचार करना आवश्यक है। फ़िलहाल
मैंने प्यार किया तथा दिल जैसी हिट फ़िल्मों के साथ हिन्दी सिनेमा अपने लाक्षणिक
रूप से गीतात्मक अन्तराल से गुज़र रहा है तथा आशा की जा सकती है कि इसका
अनुसरण नये संश्लेषणों तथा विश्लेषणों द्वारा होगा।

अंत में मैं दर्शकों के अँधेरे सिनेमाघरों में और अधिक क़ैद न रहने वाले नागरिक
के रूप में, व्यापक रूप में उस जनता के रूप में जो राजनीतिक अधिकारों का
उपभोग करती है तथा व्यक्तिगत रूप से विभिन्न कर्तव्यों का संपादन करती है, भीड़
अथवा समुदायों के रूप में विषय पर वापस लौटना चाहूँगा। क्या हमारे सिनेमा का
ऐतिहासिक सर्वेक्षण हमें इस दर्शक के इतिहास के बारे में कुछ बताता है? यहाँ
होटलों से जहाँ अनपढ़ भीड़ मूक परदे पर फूहड़ता करती थी हम कई मंज़िलों से
होते हुए ऐसी स्थिति तक आ गये हैं जहाँ सम्पन्न वीडियो मालिक अपनी फ़िल्में
घर पर देखता है तथा दूसरे उन्हें बदतर होते खस्ताहाल सिनेमाघरों में देखते हैं।
बीच के समय में भी जैसा कि हमने देखा, हिन्दी सिनेमा की विभिन्नता मानवीयीकृत
रूपाकारों में सिकुड़ गयी है, चाहे वह कितनी भी गतिशील दिखाई देती हो। संक्षेप
में, जहाँ पूर्व में सिनेमा तकनीक लोकप्रिय विषयों की पीठ पर सवार होकर आयी
वहीं अब हम एक जन-संस्कृति के बोझ से दबे हुए हैं जो तकनीक के आश्चर्यों
पर चढ़कर आती है। मुझे पता नहीं कि कितने भारतीय महाभारत देखने के लिए
अपने टी.वी. सेट लेकर आये। किन्तु सिनेमा की भाँति टेलीविज़न भी अब हमारे
निजी तथा सार्वजनिक जीवन का विलासितापूर्ण अंग है।

मेरे लेख का यह पीड़ामय, शिकायत भरा निष्कर्ष मेरे पक्ष का एक विशेष सह-अस्तित्व
का संकेत दे सकता है। किन्तु यह एक अति-पश्चिमीकृत भारतीय का सह-अस्तित्व
नहीं है, जो कि हिन्दी सिनेमा की ओर कभी समाप्त न होने वाली अवमानना से
देखता है, जबकि कई बार उसके आकर्षण से हार जाता है। मेरा सह-अस्तित्व इस
तथ्य से उभरता है कि हिन्दी सिनेमा की विनीत गीतात्मकता अब पहले ही एक
कटु, दंभपूर्ण कोलाहल में बदल चुकी है और जबकि मैं लगभग शर्मिन्दा होकर
इससे प्रेरित व्यग्रमिलन से सहानुभूति रखता हूँ। मैं *नामजप* के एक सुर अद्वैतवाद
ओए-ओए अथवा *जुम्मा-चुम्मा* की श्रुतियों से विद्रोह कर रहा हूँ।

अनुवाद : सुरेश सलिल

संस्कृति और चेतना निम्नवर्गीय

एम.एस. पांडियन

भारत में चलते आ रहे विरोध-आन्दोलनों, संघर्षों और व्यवस्था विरोधी [illegible] विभिन्न रूपों को विस्तृत मार्क्सवादी चौखटे के अंतर्गत समझने में [illegible] पर्याप्त गहराई हासिल की है। ए.आर. देसाई द्वारा संपादित किसान-संघर्ष [illegible] [illegible] ग्रंथ (1979, 1986) और रणजीत गुहा द्वारा संपादित निम्नवर्गीय [illegible] अध्ययन कुछ ग्रंथों में (1982, 1983, 1984, 1985, 1987 और [illegible] उपलब्धि के सशक्त प्रमाण हैं।

विरोधी आन्दोलनों और संघर्षों का अध्ययन करने का अर्थ है निम्नवर्गीय [illegible] चलते आ रहे आधिपत्य-विरोधी आयोजनों की जाँच पड़ताल। इन आधिपत्य विरोधी आन्दोलनों का अध्ययन और उससे सबक लेना निस्संदेह महत्वपूर्ण है, [illegible] भी जान लेना जरूरी है कि दिक् और काल के अंतर्गत ऐसे अध्ययन बहुत थोड़े और छितरे-बिखरे हैं। यानी बड़ी सच्चाई यह है कि विशिष्ट-वर्गों के प्रति [illegible] और विशिष्ट-वर्गीय मूल्यों के साथ प्रतिस्पर्धा जैसी प्रक्रियाओं के द्वारा विशिष्ट-वर्ग (एलीट) के आधिपत्य को निम्न वर्ग स्वीकार कर लें।

बहरहाल, ठोस परिस्थितियों के बीच निम्नवर्गीय जातियों से शासक अभिजात (रूलिंग एलीट) किस तरह स्वीकृति प्राप्त करता है, इस पर कोई अध्ययन नहीं हुआ है। प्रचलित शोध कार्य की इस ख़ामी ओर कुछ विद्वानों ने इशारा किया है। (सरकार: 1984, पटनायक : 1988)। यह निबंध इसे प्रस्थान-बिन्दु की तरह लेते हुए, तमिलनाडु की जनता में अत्यंत लोकप्रिय दिवंगत **एम.जी. रामचंद्रन** (एम.जी.आर.) की केस-स्टडी के द्वारा, आधिपत्य के नीचे दबी निम्नवर्गीय चेतना की खोजबीन का विनम्र प्रयास है।

समस्या के विश्लेषण के लिए एम.जी.आर. फेनोमना को चुनने के विशिष्ट कारण हैं। एम.जी.आर. के ग्यारह वर्षीय शासन ने तमिलनाडु की निम्न-वर्गीय जातियों के [illegible] के लिए कोई ख़ास संरचनात्मक परिवर्तन नहीं किया। उनकी सामाजिक [illegible] हालत इस अवधि में अत्यंत ख़राब हो गई (MIDS, 1988)। दूसरी ओर [illegible] सरकार ने शासकीय मशीनरी के निर्मम उपयोग से मजदूरों, किसानों [illegible] [illegible] शासकीय कर्मचारियों आदि के मामूली-से-मामूली विरोध को [illegible] साथ उनके राज ने द्रविड़ आंदोलन के आरंभिक प्रगतिशील दौर में निम्नवर्गीय जातियों के संघर्षों की उपलब्धियों को जाने-अनजाने तबाह किया। इस हालत में

...[illegible] थी कि एम.जी.आर. की राजनीति को निम्नवर्गीय जातियाँ निरोध करती
...संके [illegible] एम.जी.आर. को यदि बढ़ती हुई नहीं तो एक स्थिर लोकप्रियता
...मिल[illegible] [illegible] में उनके पूरे कार्यकाल में मिलती रही। उनकी पार्टी को
...[illegible] के पूरे मतों का एक तिहाई भाग मिला और उनके अनुयायियों ने [illegible]
...[illegible] व्यक्तिगत सम्मान [illegible] गया [illegible] 24 दिसम्बर 1987 को
...[illegible] लोग शवयात्रा में शामिल हुए और उन्होंने अभूतपूर्व [illegible]
...[illegible] उनके अतिरिक्त, उनके इकतीस प्रशंसकों ने आत्महत्या कर ली। इस
...[illegible] के संदर्भ में **आरोपित** चेतना और **वास्तविक** चेतना [illegible]
...[illegible] इसी कारण, एम.जी.आर. फेनामिना का अध्ययन इस बाबत
...[illegible] किस तरह [illegible] निम्नवर्गी जातियों के
...[illegible]
...[illegible] बहुत [illegible] है (हार्ड्रग्रेव, [illegible]
...[illegible] 1983, [illegible] 1981) के सारे अध्ययन
...[illegible] है, [illegible] जो एम.जी.आर. फेनोमिना
...[illegible] प्रश्नों को नहीं उठाते हैं। (यह एक दूसरा
...[illegible] चेतना से सम्बन्धित [illegible] फेनोमिना को केस-स्टडी के लिए चुना)।
...[illegible] एम.जी.आर. फेनोमिना के सारे पहलुओं
...हरहाल, [illegible] कि निबंध में एम.जी.आर. फेनोमिना बहु-स्तरीय और जटिल है, हमने
...ी पड़ताल नहीं की गयी है। चूँकि यह फेनोमिना बहु-स्तरीय और जटिल है, हमने
...श्लेषण के लिए सिर्फ एक पहलु को चुना है: कि पर्दे पर एम.जी.आर. की
...वशिष्ट मूर्ति किस प्रकार प्रस्तुत की गयी, कि निम्न वर्गीय जातियों के किस सांस्कृतिक
...ृष्ठभूमि में यह मूर्ति बसी हुई है, कि कैसे और क्यों यह मूर्ति लोकप्रिय बनी, और
...क इसकी विचारधारात्मक विषयवस्तु का स्वभाव क्या है।

...सके पूर्व कि स्वयं फेनोमिना पर ही बहस आरंभ हो, इस निबंध में प्रयुक्त केन्द्रीय
...श्लेषणात्मक धारणा, यानी इतालवी मार्क्सवादी अन्तोनियो ग्राम्शी द्वारा विकसित और
...चिलित अ-दार्शनिकों के दर्शन के सामान्य बोध की धारणा, को जान लें। ग्राम्शी
... किसी भी बोध से रहित विश्वदृष्टि के रूप में बनी आम-आदमी के दृष्टिकोण
... थामे हुए **ज्ञानोदय-परम्परा** (Enlightenment tradition) की आलोचना की
...त में, और साथ-ही-साथ **ज्ञानोदय-पूर्व परम्परा** की आलोचाना की शक्ल में भी
...के जो उनकी विश्वदृष्टि को ही **दर्शन** मानती है) उभरे ऐसे सामान्य-बोध की
...रणा को विकसित किया।[5]
...्शी के अनुसार, सामान्य बोध सांस्कृतिक पूर्वानुमानों का ऐसा सामान्य-भाव है
...समें निम्नवर्गीय जातियाँ, कि जिस संसार में वे रह रही हैं, उसमें ही अर्थ खोजें।
... विश्वदृष्टि या चेतना पूर्व-सैद्धांतिक, अ-व्यवस्थित, बिखरी-बिखरी, और अंतर्विरोधी
... ग्राम्शी ही के शब्दों में (1973: पृ. 419) "सामान्य भाव की मौलिक विशिष्टता
... है कि वह ऐसी धारणा है, कि जिनका वह जीवन-दर्शन है उन्हीं लोगों की
...माजिक और सांस्कृतिक स्थिति अनुरूप ही वह किसी एक व्यक्ति के दिमाग में

खंडित, बिखरी-बिखरी, और असंगत है।" यह चेतना सबसे पहले विशिष्ट वर्ग (एलीट) की विचारधाराओं के अवशेषों द्वारा ही काबिज है—

> ......निम्नवर्गीय जातियों ने, गुलामी और बौद्धिक मातहती के कारणों से, ऐसी धारणा अपना ली है जो स्वयं उसकी नहीं बल्कि किसी दूसरे समूह से उधार ली हुई है; और वह मुखरता से इस धारणा को पुष्ट करती है और उसका अनुसरण करने को खुद-ब-खुद मानती है क्योंकि वह ऐसी धारणा है जिसका वह **सामान्य काल** में पालन करती है, यानी कि जब उसका आचरण स्वतंत्र और स्वायत्त नहीं बल्कि गुलामी और मातहती का है (ग्राम्शी, 1973: पृष्ठ 327)।

बहरहाल, सामान्य बोध, शक्तिशाली विचारधाराओं के तत्वों को ढोने वाला पूर्णतः प्रतिक्रियात्मक बोध नहीं है, उसमें प्रगतिशील, स्वायत्त तत्व भी हैं जो खुद को उस वक़्त उभारते हैं जब निम्नवर्गीय ज़ातियाँ विशिष्ट वर्ग के विरुद्ध **यदा-कदा और ताकत के साथ** हरकत करती हैं।

सामान्य बोध में यह स्वस्थ केन्द्र है, जिसके एक अंश को **अच्छा बोध** कह सकते हैं और जो ज्यादा एकात्मक और संयोजित बनाने योग्य है।

सामान्य बोध का अंतर्विरोधी चरित्र उसे ऐसा लोच प्रदान करता है कि वह चुनिन्दा-तौर-से विभिन्न राजनीतिक शक्तियों द्वारा समंजित और पुनर्गठित किया जा सके। ग्राम्शी के ही चिन्तन में इंगित है कि लोगों के किसी भी आंदोलन में सामान्य बोध की आलोचना को "मूलतः सामान्य बोध पर रख कर ही उभारना चाहिए ताकि जाहिर हो हर कोई चिन्तक है और उसे "अच्छे बोध" और प्रगतिशील तत्वों को सामान्य बोध के अंतर्गत ही ज़्यादा एकात्मक और समंजित" बनाना है।[6] दूसरे शब्दों में, "...... विचारधारा, सामान्य बोध के इस अर्थ में, प्रभुत्व क़ायम करने का कोई औजार या झूठे विश्वासों का कोई सेट नहीं है। कदाचित, वह संघर्ष का क्षेत्र है, वह ऐसा स्थान है जिस पर प्रभावशाली विचारधारा रची जाती है, गो ऐसा भी कि उसी विचारधारा का प्रतिरोध भी उसी जगह होता है।" (साइमन, 1987) यह निबंध दर्शाता है कि संघर्ष की इस ज़मीन पर प्रभावशाली विचारधाराएँ किस तरह पनपती हैं और निम्नवर्गीय-जातियों के बीच रज़ामन्दी हासिल कर लेती हैं। यह प्रक्रिया, जैसा हमने पहले ही बता दिया, एम.जी.आर. की **स्क्रीन इमेज़** और तमिलनाडु की निम्नवर्गीय जातियों में पहले-से-ही मौजूद **सामान्य बोध में उसके प्रवेश** का अन्वेषण कर प्रदर्शित की गयी है। एम.जी.आर. की इमेज़ फ़िल्मों में किस तरह गढ़ी गयी, हम यहाँ से शुरू करते हैं।

वरंथिरा रानी (लोकप्रिय पत्रिका जिसका सकूलेशन है तीन लाख प्रतियाँ) ने 15 फरवरी 1987 के अंक में भविष्यवाणी की थी कि तमिलनाडु विधानसभा भंग होगी और नये चुनाव होंगे। यद्यपि भविष्यवाणी ग़लत निकली, लेकिन उस भविष्यवाणी का आधार दिलचस्प और महत्वपूर्ण है। भविष्यवाणी इस जानकारी के आधार पर की गयी थी कि एम.जी.आर. जिसमें नायक बने हैं उनकी नयी प्रिंट बनायी जा रहीं हैं! चुनाव-अभियान के दौरान एम.जी.आर. फ़िल्में लगातार प्रदर्शित की जातीं, और

अखिल विश्व एम.जी.आर. दर्शक संघ (तमिलनाडु में जिसकी दस हजार शाखाएं [illegible]) [illegible] मुनेत्र कषगम की रीढ़ है।[7] एम.जी.आर. [illegible] [illegible] ऑल इंडिया अन्ना द्रमुक [illegible] दर्शक संघ और पार्टी अलग-अलग नहीं है।[8]

[illegible] और राजनीति के बीच एक प्रतीकात्मक सम्बन्ध मौजूद रहा [illegible] यह महत्वपूर्ण है कि [illegible] [illegible] फिल्मों ने राजनीति में दखल दी। यह [illegible] [illegible] संभव हुआ। सीधे-सीधे राजनीतिक प्रोपेगंडा करना [illegible] [illegible] प्रगतिशील, विलयकारी और ओवर इराड। अमूमन, पार्टी के चिन्हों [illegible] [illegible] गानों और संवाद में [illegible] प्रयोग और पार्टी के नेताओं से मिलते-जुलते नामों का [illegible] सामान्य लक्षण है। तीसरा प्रयोग डी.एम.के. स्टाइल के राजनीतिक प्रोपेगंडा का [illegible] वास्तविक डाकुमेंटरी टुकड़ों को डाल देना। [illegible] फीचर फिल्म के भीतर [illegible] किसी संवाद के सीक्वेंस के बीच, एक प्रश्न के [illegible] और श्रृंगारथनाम में, किसी [illegible] पार्टी की कान्फरेन्सों को दर्शाते हिस्से को लपेट लेता [illegible] डी.एम.के. [illegible] करुणानिधि और सी. अन्नादुराई फिल्मों की पटकथा-लेखक [illegible] फिल्मी हस्तियों की कोई कमी नहीं [illegible] की पार्टी पालिटिक्स में [illegible] के.आर. रामास्वामी, एस.एस. राजेन्द्रन और [illegible] एन.एस. कृष्णन, के.आर. रामास्वामी, एस.एस. राजेन्द्रन पार्टी-कान्फरेंसों में भीड़ जुटाते आये हैं।

एम.जी.आर. [illegible] फिल्मी अभिनेता [illegible] लीलावती में फिल्म कैरियर का [illegible] [illegible] डंकन की [illegible] जिनमें उन्होंने 136 फिल्मों [illegible] फिल्मी-अभिनय अवधि चालीस वर्ष रही जिनमें उन्होंने [illegible] पहले बीस वर्ष धार्मिक फिल्मों में।[9] छठे दशक [illegible] और कि जिनमें से पहले बीस वर्ष [illegible] और थिरुडाथे (1961) में [illegible] उन्होंने सामाजिक भूमिका आरंभ की और [illegible] एम.जी.आर. की स्क्रीन-भूमिका अनेक [illegible] मान्यता मिलने लगी। तत्पश्चात, एम.जी.आर. की स्क्रीन-भूमिका अनेक स्टीरिओटाइप चरित्रों से भरी पड़ी है जो कुल मिला कर एम.जी.आर. है। [illegible] भूमिका दैनंदिन शोषण के अंतर्गत जूझते मजदूर की है। [illegible] एम.जी.आर. भूमिका [illegible] रिक्शा-चालक, ठेलेवाला, माली, टैक्सी-ड्राइवर, [illegible] किसान, मछुआरा, रिक्शा-चालक, ठेलेवाला, [illegible] भूमिका निभाते अनेक एम.जी.आर. मोची, गड़रिया आदि बन कर वह फिल्मों में भूमिका निभाते [illegible] फिल्मों के टाइटल भी इसी प्रकार है— थोजीलाली (मजदूर) 1964, विवासायी (किसान) 1967, पदाकोट्टी (बोटमैन) 1964, माट्टुकारा वेलन गड़रिया 1970 [illegible] मीनावा नंबन (मछुआरे का दोस्त) 1977, रिक्शाकरन (रिक्शावाला) 1971 और [illegible] उनकी निम्नवर्गीय इमेज [illegible] कि जिनमें वह डबल रोल में रहे आये, [illegible] उल्लेखनीय उदाहरण है, माट्टुकारा वेलन [illegible] उभार दिया गया। इसका [illegible] निभाई है। पूरी फिल्म [illegible] गड़रिये और वकील दो चरित्रों की भूमिका [illegible] और फिर, उसी के उपयुक्त [illegible] गड़रिये को उभारा गया बनिस्बत वकील के। [illegible] गड़रिये के नाम पर रखा गया।

[illegible] गड़रिये [illegible] और निस्संदेह [illegible] साथ-साथ [illegible] [illegible] शोषण के [illegible] है और दर्शक [illegible] एम.जी.आर. की निम्नवर्गीयता का [illegible] [illegible] एम.जी.आर. के साथ आइडेंटिफाई [illegible] [illegible]

सिर्फ़ एक तत्व का उदाहरण देते हैं और वह है **भोजन** कि जो ग़रीब की रोज़मर्रा चिन्ता का अंग है। **थोजीलाली** (1964) में एम.जी.आर. मज़दूर है, मिट्टी के बर्तन से चावल-का-पानी पीता है और अपनी उँगलियाँ चाटता है। **कावन** (1968) में वह **नीराकरम** (पानी, जिसमें वासी भात घुला हुआ है) माँगता है अपनी धनी पत्नी के घर में। **निनाईथाथी मुडिप्पवन** (1975) में, रागी डोसाई खाता है, **सुक्कु कप्पी** (सोंठ, गुड़ और पानी का घोल) पीता है और वासी भात और भुना अनाज माँगता है। इन भोजन-पदार्थों को **एम.जी.आर.** की फ़िल्में एक विशिष्ट लाक्षणिक अर्थ के साथ प्रस्तुत करती हैं। यहाँ इस बात का महत्व इसमें है कि ग़रीब वैसा भोजन खाने को मज़बूर हैं, सारा महत्व इसमें है कि उस भोजन को दृश्यात्मक रूप में खाने की सिनेमाई संरचना ऐसी है जो **हीरो एम.जी.आर.** को निम्नवर्गीय जातियों के साथ एकाकार करे। **माट्टुकारा वेलन** (1970 में, **गड़रिया बना एम.जी.आर.** दूसरे डबल रोल में **वकील** है। जब बढ़िया भोजन सामने आता है एकाएक निगलने लगता है, उच्चवर्गीय शिष्टाचार की परवाह किये बग़ैर, और मुँह पर दाने चिपके रहते हैं।[10] इसी तरह भोजन के साथ-साथ दूसरे **उपकरण** जैसे वेश-भूषा की डिज़ाइन और रंग भी **एम.जी.आर.** को स्क्रीन पर निम्नवर्गीय आदमी का चेहरा प्रदान करते हैं।

एम.जी.आर. फ़िल्मों का सामाजिक संसार अ-संतुलित सत्ता का संसार है। सत्ता के एक सिरे पर ऊँची जातियों के स्त्री-पुरुष, ज़मींदार और धनी उद्योगपति, पढ़े-लिखे विशिष्ट वर्ग के लोग, और निस्संदेह हर रूप में **पुरुष**— जो कि असीम ताक़त का उपयोग करते हैं और सत्ता की शोषणकारी गतिविधियों में लीन हैं। सत्ता के दूसरे सिरे पर अभागे त्रस्त लोग हैं— निम्नजाति के लोग, भूमिहीन ग़रीब, शोषित मज़दूर, अनपढ़ मूढ़, और निस्सहाय स्त्रियाँ। सत्ता ही सर्वव्यापी रूप में, सर्वशक्तिमान और अभिन्न दिखाई जाती है, जबकि उसके शिकार बिलकुल कोमल, पिटे-हुए, और अपनी यतांना में एक-से नज़र आते हैं। सो हम देखते हैं किसान की ज़मीन हड़पता ज़मींदार (**विवासायी** (1967), गाँव का रईस कि जो खेत मज़दूर पर कोड़े बरसाता है (**येंगा वीटू पिल्लई** (1965)), महाजन जो ग़रीबों का शोषण करते हैं। **पदाकोट्टी** (1964), उद्योगपति जो कि मनमर्ज़ी से मज़दूर को बरख़ास्त करते हैं **थोजीलाली** (1964), लालची लोग जो कि दूसरों की सम्पत्ति पर लोभ रखते हैं **मुकारसी** (1966), शहरी छैले जो ग़रीब लड़कियों का शीलभंग करते हैं। **थेइएर थिरूविजा** (1968), उच्चवर्णी जो कि अपने निम्नवर्णी नौकरों को घरों के भीतर नहीं आने देते हैं **नडोडी** (1966), विवाहित पुरुष जो कि अन्य स्त्रियों पर ललचते हैं **विवासायापी** (1967)।

इन उच्चवर्गीय और उच्चवर्णी शोषकों एवं निम्नवर्गीय **एम.जी.आर.** के बीच संघर्ष और समाधान इन फ़िल्मों का मर्म है। संघर्ष की अवधि में, **एम.जी.आर.** प्रभुत्व जमाये लोगों के आधिपत्य के अनेक चिन्हों को समुचित करते हैं। किसी अर्ध-सामन्ती सामाजिक संरचना में जहाँ बातचीत, वेश-भूषा, शारीरिक हरकत, और भोजन लाक्षणिक तौर पर सत्ता और मान के संकेतों में अलग-अलग हों तब निस्संदेह किसी निम्नवर्गी

गरीब द्वारा सत्ता के चिन्हों को इस तरह ठीक-ठाक समुचित बनाना ध्यान देने योग्य है।[11] एम.जी.आर. की फ़िल्मों में प्रदर्शित इस तरह के तीन संकेतों को हम परखें। वे हैं: (1) न्याय प्रदान करने और दण्ड देने का अधिकार, (2) शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्कूल का होना, (3) स्त्रियाँ हासिल करने की पहुँच।

(1) वह शोषण के ख़िलाफ़ एक व्यक्ति के रूप में संघर्ष करता है— यद्यपि निम्नवर्गीय [illegible] सिवाथंबी (1981: पृष्ठ 41) कहते हैं— "...संघर्ष का संसार होने के इर्द-गिर्द बसा संसार है और उसका व्यक्तिगत उद्धार वहाँ दर्शायी गयी सामाजिक समूह के उद्धार का प्रतीक है।" जिन अड़चनों का वह सामना करता है और अन्याय के ख़िलाफ़ संघर्ष के दौरान उन्हें पार करता है वे सामान्य आदमी के लिए पार करना नामुमकिन हैं, लेकिन वो तो व्यवहारिक तौर पर असंभव परिस्थितियों को नियंत्रित करके न्याय स्थापित करता है।

व्यक्तिगत [illegible] के रूप में एम.जी.आर. की भूमिका, स्टंट सीक्वेंस में विशेषकर, एक ख़ास अन्दाज़ के साथ उजागर होती है। ये सीक्वेंस के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष को संयोजित [illegible] निहत्था एम.जी.आर. किसी सशस्त्र शत्रु के ख़िलाफ़ या ज़मींदार के भाड़े के लठैतों के विरुद्ध अकेला लड़ता है। उदाहरणार्थ, **मादापुर** (1962) में एम.जी.आर. (कि जिसके हाथ में फ़ेक्कर है) किसी माफ़िया सरदार को मार भगाता है। इसी तरह, अनेक फ़िल्मों में एम.जी.आर. **सिलांबम** की अत्यंत लोकप्रिय मार्शल कला में अपनी निपुणता प्रदर्शित करते हैं। ये तेज़ चलते सीक्वेंस इतने लोकप्रिय हैं कि एम.जी.आर. के **प्रशंसक-दर्शक** विभिन्न फ़िल्मों में प्रदर्शित इन दृश्यों का लोमहर्षी वर्णन करते रहते हैं। जैसे ही कोई नयी एम.जी.आर. फ़िल्म प्रदर्शित होती है, फ़िल्मी-पत्रिकाओं में प्रशंसक-दर्शकों के ढेर सारे पत्र उनके **फाइटिंग-कौशल** की सराहना से लबालब रहते हैं।[12]

एम.जी.आर. शोषण और दमन के ख़िलाफ़ न केवल लड़ता ही है वरन् सदैव अपराजित रहता है। उसे जीतना ही है, और वह बड़ी आसानी से जीतता है। वह लोहे के सरिये मोड़ देता है और नंगे हाथों ख़ूँख़ार शेरों की गर्दन दबा देता है। दरअसल, एम.जी.आर. की अपराजेयता लोकप्रिय चेतना में किंवदंती बन गयी है, और स्वयं एम.जी.आर. ने 'पूजनीय' ताक़त हासिल कर ली है। उदाहरणार्थ, **मनाल करीयू** के एक दृश्य में (कि जिसमें एम.जी.आर. ने अभिनय नहीं किया है), यह उल्लेखनीय है, कि बीते वर्षों की एक हिट फ़िल्म (**एंगा वीटू पिल्लई**) के पोस्टर में हाथ में हंटर लिये खड़े एम.जी.आर. को देख **मनाल करीयू** का एक मामूली पात्र प्रेरणा ग्रहण कर एकाएक ताक़तवर रूप में बदल जाता है और खलनायक को मार गिराता है। (गैमुएल: पृ. 272-73)।

न्याय के लिए लड़ने वाले किसी निम्नवर्गीय नायक के रूप में एम.जी.आर. की भूमिका दो पहलुओं को उजागर करती है: पहला कि एम.जी.आर. स्वयं को न्यायदाता के रूप में **उपयुक्त** बनाते हैं। दूसरा, कि शारीरिक हिंसा का उपयोग करने वाले अधिकार संपन्न के रूप में भी **उपयुक्त** बनाते हैं। दोनों ही बातें अभिजात-वर्ग (एलीट) का एकाधिकार हैं।[13]

(2) अभिजात-वर्गों के आधिपत्य का दूसरा चिन्ह, जिसे पर्दे पर एम.जी.आर. 'उपयुक्त' बनाते हैं वह है शिक्षा/साक्षरता। **पडाकोट्टी** (1964) में समूचे मछुआरे कबीले में एम.जी.आर. ही अकेला साक्षर मछुआरा है। **थाज़हाम्पू** (1965) में किसी सामान्य चाय बागान मजदूर परिवार में वह प्रथम पोस्टर-ग्रेजुएट व्यक्ति हैं। **थोज़ीलाल** (1964) में, मज़दूर बना एम.जी.आर. कई-कई रात पढ़कर डिग्री हासिल करता है। **पन्ना थोट्टाम** (1963) और **नान यीन पिरान्थाएन** (1972) में साक्षरता प्राप्त करने के लिए घर गिरवी रख देता है। **पेट्रालथन पिल्लैया** (1966) में, ईमानदार आवारा बना हुआ एम.जी.आर. किसी लापरवाह छोड़ दिये गये बच्चे को आश्रय दे कर शपथ खाता है उसे अंग्रेज़ी माध्यम की शिक्षा दिलायेगा!

एम.जी.आर. फ़िल्मों में हीरो के द्वारा दमन-शोषण के ख़िलाफ़ **साक्षरता** का एक हथियार के रूप में उपयोग सदैव-ही अभिजात वर्ग के हाथों शोषण के हथियार के रूप में उसके उपयोग के बरक्स रखा जाता है। पडाकोट्टी (1964) में, खलनायक (कि जो धनी मछली-व्यापारी है) ग़रीब और अनपढ़ मछुआरों से **प्रॉमिसरी नोटों** पर ज़बरन अँगूठे-के-निशान लगवाता है, और उन्हें 'क्या लिखा है' इससे अनभिज्ञ रखता है। लेकिन अकेला साक्षर मछुआरा एम.जी.आर. दृश्य में प्रगट होता है और प्रामिसरी नोटों पर लिखा मज़मून पढ़ कर अनपढ़ों को व्यापारी की चालबाज़ियों से बचा लेता है। **येंगा वीटू पिल्लई** (1965) में, साक्षर मजदूर एम.जी.आर. झूठे दस्तावेज़ों के ज़रिये ज़मींदार के द्वारा दूसरे लोगों की सम्पत्ति हड़पे जाने का भण्डाफोड़ करता है। इस तरह **साक्षरता** (कि जो अभी तक अभिजात वर्ग का विशेषाधिकार रही है) अब निम्नवर्गीय हीरो के हाथ में आ कर बात को उलटने का हथियार बन गयी है, जो शिक्षा के आधिपत्य प्रतीक होने को चुनौती है।

(3) आधिपत्य का तीसरा संकेत कि एम.जी.आर. जिसे स्क्रीन पर संयोजित करता है वह **स्त्रियों** से सम्बन्धित है। पुरुष-प्रधान समाज में, जहाँ ज़मींदार-लोग किसान लड़कियों का आसानी से शीलभंग करते हैं और रुतबे के रूप में रखैलें रखते हैं वहाँ स्त्रियों के शरीरों को हासिल करने और उन पर कब्ज़ा बनाये रखना **अधिकार की निशानी** है। यहाँ, निम्नजातियों के लोगों पर नियंत्रण, अन्य बातों के साथ-साथ, अपनी स्त्रियों के ऊपर किये जा रहे अत्याचार और बलात्कार से रक्षा कर पाने की अयोग्यता पर ज़ोर दिया गया है। एम.जी.आर. इस धारणा को चुनौती देते हैं। अपनी फ़िल्मों में, ग़रीब आदमी की तरह शुरू होते हैं और किसी धनी स्त्री के विवाह कर फ़िल्मंत करते हैं, अथवा निम्नजाति का युवक रह कर उच्चवर्णी कन्यासे शादी करता है। जब शक्तिशाली खलनायक सामने होता है तब ग़रीब एम.जी.आर. ही जीतता है। **मट्टुकारा वेलन** (1970) में वह वकील की लड़की से व्याह करता है जो उसे आरंभ में ग़रीब गड़रिया समझ घर से धकेल बाहर करती है। यह पैटर्न थाज़ाम्पू (1965), और **पेरिया इदायु पेन्न** (1963), **येन्गा वीटू पिल्लई** (1965), और **पाना थोट्टम (1963)**, में दोहराया जाता है। **नाडोडी** (1966) और **नुम नाडु** (1969) में, एक निम्नजातीय एम.जी.आर. उच्चवर्णीय स्त्री से विवाह करता है। **पल्लान्दु वज़ागा** (1957), ऐराथिल ओरुवान (1965), **महादेवी** (1957), **थ्रेइडर**

थिरूविज़ा (1968), और **पदाकोट्टी** में एम.जी.आर. अपनी मनचाही स्त्री से ताक़तवर
खलनायकों को हरा कर ब्याह करता है।
यह महत्वपूर्ण है कि **एम.जी.आर. फ़िल्मों** में, उचचवर्गीय या उच्चवर्णी स्त्री सदैव
निम्नवर्गीय या निम्नवर्णी एम.जी.आर. से ही प्यार करती है। इस अर्थ में, एम.जी.आर.
वर्ण के भेद के बावजूद स्त्रियों को कहीं भी किसी से प्रेम करने और विवाह करने
की 'आजादी' देता प्रतीत होता है। मानदण्डों के इस **विचलन** ने स्त्रियों को कतिपय
अवधारणात्मक आज़ादी प्रदान की है और उसी के साथ-साथ निम्नवर्गीय जातियों के
पुरुषों में पराक्रम और पौरुष भरा।
केवल यही तीन दृष्टांत नहीं जहाँ **एम.जी.आर.** अधिकार के संकेतों को संयोजित
करते हैं। सूक्ष्म और सुनिश्चित तरीक़ों से वह उसी तरह वेशभूषा, शारीरिक-हरकत
आदि के अन्य आधिकारिक संकेत इस्तेमाल करता है। जबकि ग़रीब धनाढ्यों के
समक्ष हाथ जोड़े खड़े रहते हैं, एम.जी.आर. उनके मुक़ाबले में कमर-पर-हाथ रखे
सीना तान खड़ा होता है। अन्यों की तरह कमर पर टावेल नहीं लपेटता, कि जो
गुलामी की निशानी है, बल्कि इसके विपरीत वह उसे सिर पर लपेटता है। हाँ,
एम.जी.आर. इस तरह की प्रस्तुति के सारगर्भी अर्थ से बखूबी परिचित हैं। अपने
ही शब्दों में, "अच्छे आदमी हो पर्याप्त नहीं। प्रतिमा उत्पन्न करो कि अच्छे आदमी
हो। हरेक आदमी की इमेज़ होना चाहिये। उदाहरणार्थ, नागी रेड्डी, एस.एस. वासन,
या मैं स्वयं। हममें से प्रत्येक की एक-एक स्पष्ट इमेज़ है। इमेज़ ही एकाएक ध्यान
में आती है कि जब किसी आदमी को देखते हो या उसका नाम सुनते हो। कुछ
हासिल करना होता है तब अपनी स्वयं की ही इमेज़ आगे करते हो।"[14]
एम.जी.आर. की यह इमेज़ तमिलनाडु की निम्नवर्गीय जातियों की परम्परागत सांस्कृतिक
रूढ़ियों में अथवा उनके सामान्य-भाव में कहाँ और कैसे फिट होती है? तमिलनाडु
की वीर-गाथाओं में कि जो तमिलनाडु में निम्नवर्गीय जातियों का उर्जस्वी तत्व हैं,
इस प्रश्न का जवाब शायद वहाँ मिले।
तिरुची और दक्षिण अर्काट जिलों का सीमाक्षेत्र काजू के घने जंगलों से भरा क्षेत्र
है। हाल के अंतीत में कभी, इस क्षेत्र के कतिपय गाँवों में ऐसा अधम रिवाज
प्रचलित था कि प्रत्येक स्त्री को उसकी सुहागरात गाँव के मुखिया, **नट्टमाई,** के
साथ गुज़ारनी पड़ती। यह रिवाज कोडुकूर अरुमुगम ने तीन नट्टनमाईयों की गर्दन
उड़ाकर ख़त्म कर दिया। कोडुकूर अरुमुगम आज भी क्षेत्र के ग़रीबों का हीरो है
जिसका यश लोक-गीतों में गाया जाता है।[15]
समूचे आँचलिक तमिल क्षेत्र में, इसी तरह के अनेक लोक-नायक हैं। इनमें से
कुछ के नाम हैं: मुथुपट्टन, चित्रनादन, चिन्नाथाम्बी, जाम्बुलिंगम, और मदुराई वीरन।
पीढ़ी-दर-पीढ़ी ये लोग लोकप्रिय वीरगाथाओं द्वारा याद किये जाते हैं।
चिन्नाथाम्बी एक चाक्किलिअर (अछूत मोची) है। निम्न जाति के चिन्नाथाम्बी ने स्थानीय
राजा के द्वारा घोषित यह इनाम जीता, कि उसने जंगलों मे घुस कर किसानों की
खेती का नाश करने वाले खूंख़ार सूअरों को मार गिराया। उसकी वीरता ने उसे
... की जो परम्परागत स्तर पर चाक्किलियरों को कभी नहीं

मिली। बढ़ता-बढ़ता वह थिरूकुरुनकुटि के शाही किले की रक्षक-सेना का सेनापति बन गया, लेकिन अंततः जले-भुने उच्चजातीय मारवाओं (जो कि रक्षक-सेन के परम्परागत सेनापति रहते आये थे) द्वारा कत्ल कर दिया गया। पर वे लोग कि जिनमें से चिन्नाथाम्बी उत्पन्न हुआ, उन्होंने उसे मरने नहीं दिया, उन्होंने उसे उन वीरगाथा काव्यों में अमर कर दिया जो तिरुनेवेली ज़िले में खूब प्रचलित है। (वनामामलाई, 1981: पृ. 161-63)।

चित्रनादन पर गायी जाती वीरगाथाएँ भी तिरुनेलवेली ज़िले की उपज हैं। चित्रनादन उर्फ़ कुमारस्वामी जब अट्ठारह का था तभी अपनी दो-वर्षीय चचेरी-बहन से ब्याह दिया गया था। लेकिन वह एक निम्नजातीय कन्या, अय्यमकुट्टि, से प्रेम करने लगा और उसने चचेरी बहन को पत्नी मानने से इन्कार कर दिया। यद्यपि उसे पारिवारिक सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ा, लेकिन वह अपने संकल्प से डिगा नहीं। वह अपने ही लोगों द्वारा मार डाला गया और उसकी पत्नी तथा अय्यमकुट्टि ने आत्महत्या कर ली। चित्रनादन का पन्थ चार गाँवों में प्रचलित है और तिरुनेलवेलि ज़िले में इराल नामक छोटे-से गाँव के इर्दगिर्द कुछेक समाधियाँ उसको समर्पित हैं। (वनामामलाई, 1981 पृ. 160-61)।

मदुराई वीरन और उसका पन्थ उत्तरी तमिलनाडु में खासकर अत्यंत लोकप्रिय है। महुराई वीरन, चिन्नथाम्बी की तरह ही, चाक्किलिअर था जो राजा बोम्मबन्ना की लड़की के साथ भाग गया और उसने राजा की सेना को अकेले ही बड़ी बहादुरी से परास्त किया। उसकी ख्याति इतनी फैली कि तिरुची के महाराजा ने उसे मान देकर उच्चजातीय डाकुओं के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए सेना में रख लिया। उसने शाही घराने की स्त्रियों के संग अंधाधुंध इश्कबाज़ी की और एक दिन राजा की ही प्रियतमा वेल्लाइआम्मल को ले उड़ा। ज़बर्दस्त दुस्साही और यौन तथा जातीय प्रतिमानों का भंगकर्त्ता मदुराई वीरन अंततः तिरुची के राजा द्वारा कत्ल करवा दिया गया। (**वनामामलाई**, 1981)। इतना ही नहीं कि वह वीरगाथाओं और उसके नाम समर्पित सैकड़ों समाधियों द्वारा याद किया जाता है बल्कि उसके चित्र मदुराई और रामनाथपुरम ज़िलों की अनेक **ताड़ी** एवं **अरक** की दुकानों की शोभा बढ़ाते हैं।

अब मैं आख़िरी वीरगाथा का ज़िक्र करूँगा जो मुथापट्टन का यश गाती है, वो एक विद्रोही ब्राह्मण था। चोटी, जनेऊ फेंक लाशों पर से चमड़ी निकालने का काम करने लगा, गाय का माँस खाता और शराब पीता— ये सब उसने तिम्माक्या और पोम्माक्का, नाम की दो चाक्किलिअर लड़कियों से विवाह करने के लिए किया। ब्राह्मण से दलित हुआ यह वीर, स्थानीय जागीरदारों के द्वारा पले हुए लुटेरे गुण्डों से अपने ससुर के जानवरों की रक्षा करता। अन्ततः साजिश से गुण्डों के हाथों मारा गया (वनामामलाई, 1981 पृ. 155-58)

पापानासम बाँध के पास उसे समर्पित एक मन्दिर है। उसके अतिरिक्त कथावरायन और कौथालमादन नाम के दो हीरो और भी हैं (ब्लैकबर्न, 1978 पृ. 136)। प्रेम और शौर्य की इन गाथाओं में सामान्य चारित्रिक-विशेषता एकदम स्पष्ट हैं। **वनामामलाई** (1981: पृ. 172-173) के अनुसार: "ये सारे हीरो.... निम्नजातीय

जन हैं जो खेतों की रक्षा करते है (चिन्नाथाम्बी), पशुओं की रक्षा करते हैं (मुथापट्टन), निम्नजातीय स्त्रियों के अधिकार की रक्षा करते हैं (हनुमा, कौथालमादन, जाम्बुलिंग), जातिगत यौन प्रतिमान तोड़ते हैं (मुथापट्टन, चिन्नानदन), ऊँची जाति के समूहों के विशेषाधिकार को चुनौती देते हुए प्रतिभाशाली तथा हुनरमन्द निम्नजातीय लोगों के लिए समान अधिकार माँगते हैं (चेन्नन्ना और लक्ष्मन्ना)।''16

अभी तक की गयी शौर्यगाथाओं की हमारी व्याख्या, पिछले भाग में एम.जी.आर. की फ़िल्मी इमेज़ के बावत उल्लेखित हमारी टिप्पणियों के साथ पढ़ी जाने पर, यह दर्शायेगी कि पर्दे पर के एम.जी.आर. और वीरगाथाओं के नायकों में उल्लेखनीय अंतर्संबंध है। बहरहाल, **एम.जी.आर.-फ़िल्मों** की कथावस्तुओं और वीरगाथाओं के बीच संबंध सिर्फ़ एकता का ही नहीं, वरन् भिन्नता का भी है। कथावस्तुओं में यह भिन्नता प्रदर्शित करती है **एम.जी.आर.-फ़िल्मों** ने किस तरह उन वीरगाथाओं को **ठोक-पीट** कर अपने उपयुक्त पुनर्सृजित किया है। यह भेद, वीरगाथाओं और इन फ़िल्मों की विचारधारात्मक विषयवस्तुओं की भिन्नताओं को देखने के मामले में बड़ा महत्वपूर्ण है।

कम-से-कम दो कारणों से, वीरोचित शौर्यगाथाएँ निम्नवर्गीय जातियों के सामान्य बोध के संदिग्ध और अंतर्विरोधी ताने बाने में प्रगतिशील तत्व या आशावादिता का गठन करती हैं। सर्वप्रथम, किसी सामाजिक परिवेश में, फसल उखाड़ने, सिंचाई का पानी रोकने, स्वेच्छाचारी न्याय बाँटने, और कृषक स्त्रियों का शीलभंग करने जैसे ज़मींदार-द्वारा-भड़काये गये एडवंचरों से आम आदमी की ज़िन्दगी उजड़ती है, तब स्वभावतः लोगों की इच्छा जीवन-प्रक्रिया में स्थिरता की माँग की ओर बढ़ती है। लेकिन, जब लोग एडवेंचरों की ओर आकर्षित होते हैं, तब ये एडवेंचर उनकी अपनी मुक्त इच्छा के लिए किये जाते है ताकि न्याय (जैसा कि वे समझते हैं) हासिल किये जाये। इस तरह वीरता पूर्ण शौर्यगाथाओं की लोकप्रियता में जो आकांक्षा पढ़ी जाती है वह यही है कि अपनी मुक्त इच्छा के उपयोग से न्याय हासिल किया जाये। दूसरी ओर, मदुराई वीरन, मुथुपट्टन, चिन्नानादन, और अन्य *वीर*, अपनी शहादत में अपनी तात्विक मानवता की पुष्टि करते हैं, और स्थापित प्रतिमानों और सर्वमान्य मानवता की सुरक्षा के लिए इस चुनौती को उभारने के कारण निम्नवर्गीय जातियों में प्रेम पाने के हकदार बनते हैं।

वीरगाथा-सी लगती एम.जी.आर.— फ़िल्म इस प्रगतिशील विषयवस्तु से रहित है। यहाँ स्मरण रहे कि, सिनेमा (और ख़ास कर यह तमिल सिनेमा) एक ऊँचे-उठते सीक्वेंस से आरंभ होकर क्लाइमैक्स पर पहुँचता है और किसी छुई-मुई से समझौता करते *अंत* में पूरा पिघल कर ख़त्म हो जाता है। इन बँधे-घुटे आख्यानों में अंतर्विरोधों को ज़्यादा उभारने की बजाय उनकी तह कर दी जाती है। **एम.जी.आर. फ़िल्मों** में अंत ऐसा होता है कि व्यवस्था के मौजूदा नैतिक अर्थशास्त्र के अंतर्गत ही कोई सीधा-सरल समाधान परोस दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, फिल्म का निम्नवर्गीय नायक यानी एम.जी.आर. व्यवस्था के अन्तर्गत ही सब कुछ न्यायशील मान कर व्यवस्था की ही पुष्टि कर देता है। यहाँ से रूपान्तरित शोषकों का संसार है जिसमें

सम्पत्ति और सत्ता के सम्बन्ध नहीं बदले है। **येंगा वीटू पिल्लई** (1965) और **विवासायी** 1967) में क्रूर ज़मींदार *भले* ज़मींदार बने हैं। **अयिराथिल ओरुवाँ** (1965) में समुद्री डाकू राजा जो ग़रीबों का दमन करता है, उसका हृदय परिवर्तन हो जाता है, लेकिन वह *राजा* वना रहता है। **नाडोडी** (1966) में, धनी जाति का आदमी **एम.जी.आर.** को, जो ग़रीब है, और निम्न जाति का है, उसे अपनी लड़की ब्याह देता है।

व्यवस्था का नैतिक अर्थशास्त्र किसी भिन्न तरीक़े से उन फ़िल्मों में पुष्ट किया जाता है कि जिनमें **एम.जी.आर.** हीरो वना है। उनमें वह *त्यागी* की भूमिका निभाता है; जैसे, **नान अनायित्तल** (1966) में अपनी ज़मीन में सैकड़ों मकान बनवाता है और ग़रीबों को मकानों में बसाकर धरती को *बसाने* का निमंत्रण देता है। **नाडोडी** (1966) में, वह अपनी खेती की ज़मीन मजूदरों को बाँट देता है। **इथाया कानी** (1975) में मज़ूदरों और अपने वीच सारा मुनाफ़ा बाँट लेता है। कई उदाहरण हैं। यहाँ "... त्याग के विचार की अपील वास्तव में उस सत्ता के लिए की गयी अपील है कि जो ग़ैरबराबरी में से बहती है। त्याग करने के लिए धन का मालिक तो होना होगा, वह कि जो समृद्ध नहीं त्याग नहीं कर सकता। त्यागी का यश *समृद्ध* को ही मिलना चाहिए, त्याग का अर्थ ही समृद्ध होना है, और इस तरह सत्तावान भी (चक्रवर्ती, 1984 पृ. 149-50)। अतः इन फ़िल्मों में यश *समृद्ध* को ही मिलता है, ग़रीव को नहीं, वीरगाथाओं में जो होता है उसका उलटा।

वीरगाथाओं के लोकनायक का फ़िल्मी पर्दो के समस्याहीन नायक में यह रूपांतरण कि जो व्यवस्था के नैतिक अर्थशास्त्र के भीतर ही न्याय खोजता है वह पहले (वीरगाथाओं के) नायक का विशिष्ट वर्गीय हित साधन के लिए पुनर्गठन है। यह अधम *पुनर्गठन* इसलिए संभव हुआ क्योंकि निम्नवर्गीय जातियों के सामान्य-भाव में विशिष्ट वर्गीय विचारधाराओं का निचोड़ घुसाया गया। उदाहरणार्थ; ग्रामीण तमिलनाडु में ऐसे लोकगीत हैं जो *भले* ज़मींदारों की चाटुकारी करते हैं। लेकिन यही सब कुछ नहीं। निम्न जातियाँ पुनर्गठित आख्यान को स्वीकृति देती हैं क्योंकि जहाँ तक उनका सम्बन्ध है, उनके यथार्थ के टुकड़े इन आख्यानों में मौजूद हैं। इसके अतिरिक्त न्याय का शीघ्र और प्रभावशाली निपटारा और घावों का तुरत-फुरत भराव, उनकी अन्यता लुटी-पिटी ग़रीब जिन्दगी में पर्याप्त नकली-आनन्द (वाइकेरियस प्लेज़र) भरता है।

पिछले अध्याय में हमने वीरगाथाकाव्योन और एम.जी.आर. फ़िल्मों के बीच विषयवस्तुगत भेद और उस भेद के विचारधारात्मक तत्व को नोट किया। अब प्रश्न उठता है किस तरह एम.जी.आर. कि स्क्रीन पर जिसकी उपस्थिति विचारधारायी स्तर पर प्रतिक्रियावादी है, समूचे तमिलभाषी क्षेत्र के हीरो के रूप में उभर आती है जबकि वीरगाथाओं के नायक वैसी ख्याति हासिल नहीं कर पाते।

यहाँ दो बातें उभरती हैं: एक है यह प्रक्रिया कि जिसके द्वारा क्षेत्रीय लोक-नायक अखिल-तमिल नायकों में **एम.जी.आर.** के अभिनेता-रूप के माध्यम से पुनर्गठित हुए। दूसरा यह कि लोक-परम्पराओं को चुन कर ऐसी चालाकी से युक्तियुक्त करना कि लोक नायकों की छवि में से सत्याग्रह और वीरता को धान कर वाहर करते

हुए उच्च-वर्गीय रूप को ही सर्वोत्कृष्ट तमिल-नायक बनाना। पहला, स्वयं फ़िल्मीय-रूप से और पार्टी के सहयोग से **एम.जी.आर.** को राजनीतिक वसीयत प्रदान कर संभव बनाया गया— दोनों ही ने प्रथम **अखिल-तमिल नायक** को उभारने में मदद दी। दूसरा, तमिलनाडु के राजनीतिक श्रेष्ठिवर्ग (एलीट) द्वारा उभारे गये वैकल्पिक नायकों के प्रकार में देखा जा सकता है।

तमिलनाडु में दूसरी प्रकार के नायकों का एक उदाहरण **वीरापंड्या कट्टाबोम्मन** को माना जा सकता है। कट्टाबोम्मन दक्षिणी तमिलनाडु के **पंचालमकुरिची** का सामन्ती मुखिया था जो अपने ही स्वार्थवश बरतानवी फ़ौज़ से लड़ा और अंततः 17 अक्टूबर 1799 को **कयात्तरू** में फ़ाँसी पर लटका दिया गया। तमिलनाडु के श्रेष्ठिवर्ग (एलीट) ने इस उच्चवर्गीय पुरुष को समूचे तमिलभाषी क्षेत्र का *हीरो* बना दिया। शिवाजी गणेशन ने **कयात्तरू** में 1970 में उसके नाम की समाधि बनायी, और तब के डी.एम.के. शासन ने **पंचालम करिची** के उसके खंडहर हुए मिट्टी-के-गढ़ का सात लाख रुपयों में, 1974 में, जीर्णोद्धार किया। हर वर्ष शासकीय खर्च से कट्टाबोम्मन-उत्सव **कयात्तरू** में मनाया जाता है, और उत्सव के दौरान लोक-कलाओं के विभिन्न रूपों में कट्टाबोमन के जीवनचरित्र का वर्णन किया जाता है। उसकी जीवनी पर एक अत्यंत लोकप्रिय फ़िल्म बनी जिसमें शिवाजी गणेशन ने प्रमुख भूमिका निभाई।

अब वापस पहले क़िस्म के नायक की ओर लौटें— यानी तमिल संदर्भ में एम.जी.आर. की ओर। लोकनायकों के विपरीत— जो कि समूचे प्रदेश तक प्रचारित होने से वंचित हैं—एम.जी.आर. के पास सिनेमा का माध्यम हाथ में आया। जहाँ तक सिनेमा में एम.जी.आर. की विशेष *प्रतिमा* को प्रक्षेपित करने का सवाल है कि वह कैसे वृहत जनता में फैले, हमें दो पहलुओं पर विचार करना होगाः (1) अन्य प्रदर्शनकारी माध्यमों की तुलना में सिनेमा के माध्यम का सामाजिक संदर्भ। (2) तमिलनाडु में सिने-माध्यम की लोकप्रियता।

साधारण माध्यम के रूप में सिनेमा अपेक्षाकृत सस्ता है इसलिए *डेमोक्रेटिक* है। ग़रीब भी फ़िल्म देखने पर एक-दो रुपया खर्च कर ही सकता है। और फ़िर, उसमें बैठने की व्यवस्था ऐसी नहीं कि बड़े को *बड़ी सीट* वहाँ तो जिसने जैसा टिकट लिया वैसी सीट। अन्य प्रदर्शनकारी कला माध्यमों में मामला गड़बड़ है; वहाँ *सीटें*, आदमी की *हैसियत* के अनुसार **रिज़र्व** होती है। "सिनेमा हॉल ऐसा पहला प्रदर्शनकारी केन्द्र है कि जहाँ सारे तमिल एक छत के नीचे बैठते हैं। बैठक का आधार किसी की *जागीरी स्थिति* के अनुसार नहीं बल्कि मूलतः उसके टिकट खरीदने की ताक़त पर है'' (**सिवाथम्बी** 1981 : पृ. 18-19)।

उपर्युक्त दोनों तत्वों ने—नज़ारे को देख सकने के लिए खर्च करने की ताक़त, और ऐसा *सिनेमा हाल* कि जो सामाजिक रूप से **सामाजिक बराबरी** वाला है— इन दोनों तत्वों ने निम्नवर्गीय जातियों के लिए सिनेमा को अत्यन्त लोकप्रिय माध्यम बना दिया। इस माध्यम की लोकप्रियता इसी तथ्य से आँकी जा सकती है कि **1961** की **जनगणना** के अन्तर्गत प्रकाशित अनेक ग्रामीण मोनोग्राफ़ में दर्शाया गया है कि तमिलनाडु के गाँवों के लोगों का एकमात्र मनोरंजन **फ़िल्म देखना** है। दरअसल

यही वह नाज़ुक रेखा है जो सामाजिक उत्सवों की विभिन्न क़िस्मों और रीति रिवाजों से मनोरंजन को अलगाती है। वास्तव में एम.जी.आर. फ़िल्मों को देखना स्वयं अपने में ही **रिवाज** बन गया है। अनेक जगहों पर एम.जी.आर. के विशाल पोस्टरों के सामने कपूर जला कर, टॉकीज़ के सामने आयी भीड़ के लोगों को उसी तरह पानी की चुटकी पिलायी जाती है— जैसे मंदिर के उत्सवों में देवता के आगे होता रहा है।

इसके साथ, तमिलनाडु में सिनेमाहाल की संख्या बहुत बड़ी है और वे खूब जगहों तक फैले हुए हैं। सारे भारत में, आँध्र-प्रदेश के बाद सिनेमाहाल की तादाद तमिलनाडु में ही सर्वाधिक है। मार्च 1986 की गणना में तमिलनाडु में 2153 सिनेमा हाल थे जिनमें से 820 तो अस्थायी (टेम्पोरेरी) हॉल थे। **अस्थायी हॉल** दरअसल *टूरिंग टॉकीज़* हैं जो एक जगह से दूसरी जगह पर **शिफ्ट** होते जाते हैं, और ये सब गाँवों और क़स्बों में ही जाते हैं। टिकट की कीमत भी अत्यन्त कम होती है। *टूरिंग टॉकीज़* में, सारे दर्शक ग्रामीण और क़स्बाई ग़रीब ही होते हैं, जबकि वहाँ के धनी लोग समीपवर्ती शहरों में उपयुक्त सिनेमा हॉलों में फ़िल्में देखते हैं।

इसका यही अर्थ हुआ कि समूचे तमिलनाडु में, **सिनेमा** लोगों को आसानी से उपलब्ध है और उनमें वह अत्यन्त लोकप्रिय है। जबकि विशिष्टवर्गीय विद्रूप और प्रबुद्धवर्गीय-नियंत्रण में जकड़े हुए सिनेमाई-माध्यम के कारण **वीरगाथाएँ** अत्यन्त छोटे से ग्रामीण समुदायों तक सीमित रह गयी है, इसीलिए फ़िल्में एम.जी.आर. को वृहत् दर्शकों के सामने ले गयी। एम.जी.आर. समूचे तमिलभाषी क्षेत्र के *हीरो* बन गये।

अब एक महत्वपूर्ण सवाल शेष रह जाता है: निम्नवर्गीय जातियाँ एम.जी.आर. की स्क्रीन इमेज़ और वास्तविक एम.जी.आर. में फ़र्क़ करने में कैसे ग़लती कर गयीं? एक कारण यह रहा कि एम.जी.आर. की ऐसी मनगढ़ंत जीवनी का बहुत बड़े स्तर पर सर्क्यूलेशन हुआ जिसमें उभारा गया कि एम.जी.आर. की वास्तविक ज़िन्दगी उसकी स्क्रीन-इमेज़ से भिन्न नहीं है। राजनीतिक मंच, समाचार-पत्र, पेम्फलेट, फ़िल्में, कैलेंडर और पार्टी के पोस्टरों ने उल्लेखनीय चतुराई के साथ इस जीवनी को उभारा। इस जीवनी-रचना की प्रक्रिया एक समूचे भिन्न निबंध की माँग करती है, लेकिन मैं सिर्फ़ कतिपय महत्वपूर्ण उदाहरण सामने रखूँगा।

एम.जी.आर. की आरंभिक ज़िन्दगी वास्तव में तकलीफ़ में बीती थी। सिर्फ़ ढाई वर्ष का था कि पिता का देहावसान हो गया। नितान्त ग़रीबी की सबब स्कूल छोड़ बच्चे का अभिनय करने ड्रामा-कम्पनी में दाख़िल हो गया। कई वर्ष कम वेतन पानेवाले कलाकार की तरह बीते और बमुश्किल फ़िल्मों में पाँव रखने की जगह मिली। उसकी इस ग़रीब शुरुआत को और अत्यन्त निर्धनता को (जो कि उसके बचपन और किशोरावस्था का काल था) आम भाषणों, पर्चों और पार्टी के अख़बारों में खूब प्रचारित किया जाता है। एम.जी.आर. स्वयं, अपने पसीने और आँसुओं के दिनों की याद करते थे। (**थंडवान,** 1983, पृ. 159)। उदाहरणार्थ, जून 30 (1982) की आल इंडिया रेडियो में प्रसारित बातचीत में, कि जब स्कूल के बच्चों के लिए दोपहर का भोजन मुफ़्त में देने की स्कीम शुरू की गयी, उन्होंने कहा, "यह स्कीम मेरे उस अनुभव का प्रतिफल है जब मैं छोटा था और जब खूब भूखा हो जाता

तभी रोता था। वह तो हमारे पड़ोस की एक दयालु स्त्री हमें चावल का पानी दे देती जिससे हमारी जान बच गयी, नहीं तो कभी के मर गये होते।'' एम.जी.आर. की अत्यन्त सस्ती जीवनी जो कि गाँव के मेलों और शहरी फुटपाथों पर बिकती है और ग़रीब साक्षरों द्वारा खरीदी जाकर पढ़ी जाती है उनमें भी इसी तरह का विस्तृत वर्णन होता है। इस तरह, एम.जी.आर. प्रबुद्धवर्गीय व्यक्ति (एलीट) नहीं जो दूसरे लोगों के शोषण की कथा को पर्दों पर लाता है, बल्कि स्वयं को शोषण के शिकार के रूप में प्रस्तुत कर अपनी ही कहानियाँ कहता है या उसी की तरह उन्हीं परिस्थितियों में फँसे स्त्री-पुरुषों की कहानियाँ बताया है।

यदि एम.जी.आर., फ़िल्मों में, धन का त्यागी है, तो वह, जैसा कि उसकी गढ़ी हुई जीवनी कहती है, वास्तविक जीवन में भी धन का त्यागी (अपरिग्रही) होना चाहिए। एम.जी.आर. के मुख्यमंत्री बनने के पहले से ही उसकी दान-पुण्यता बहुप्रचारित थी। **हार्डग्रेव जूनियर** (1979 : पृ. 102) लिखता है:

''एम.जी.आर. दक्षिण-भारत के ग़रीबों की आशाओं का प्रतीक है। बाल-बच्चे नहीं हैं, ग़रीब को दत्तक लिया है। वो ही पहला है जिसने दुर्घटना का मुआवजा शुरू किया; अनाथालयों और स्कूलों को दान देता है...। एम.जी.आर. की दान पुण्यता खूब प्रचारित है क्योंकि यही उसकी ख्याति का सार तत्व है। जब कहीं मद्रास की झोपड़ियाँ आग में जली उसने एक लाख रुपया दान दिया और घोषणा की फ़िल्म के सौंवे दिन का जलसा झुग्गीवासियों के दुख को देखते हुए नहीं मनेगा। जैसा कि एक दर्शक ने कहा ''जहाँ कहीं झोपड़ी जले वह वहाँ हाज़िर है।''

डी.एम.के. का पार्टी संगठन एम.जी.आर. को सच्चे त्यागी की तरह प्रचारित करने में ड़ी भूमिका निभाता है। डी.एम.के. नेतागण, कि जिनमें उसका स्थापक और लोकप्रिय ता सी.एन. अन्नादुराई तक शामिल है, **एम.जी.आर.** को ग़रीबों के **दानदाता** के प में बारबार प्रचारित करते रहे। डी.एम.के. समर्थक समाचार-पत्र जैसे कि **द्रविड़नाडु** और **मुरोसोली** तथा **मुथारम** जैसी पत्रिकाओं ने एम.जी.आर. की दानपुण्यता के विशेषांक निकाले। सन् 1962 के चुनाव के दौरान एक गाना खूब गाया गया जो इस प्रकार है:

''भारत-कर्ण की हथेली
लाबी पड़ गयी
उसकी दानवीरता के कारण।
किन द्रविड़-कर्ण का पूरा बदन
गुलाबी पड़ गया
सकी हर दिन की दानवीरता के कारण''

विड़-कर्ण से निर्विवाद तात्पर्य एम.जी.आर. है।

जो **लोकप्रिय जीवनियाँ** प्रसारित होती हैं, ग़रीबों के बीच, वे भी **एम.जी.आर.** को त्यागी के रूप में पेश करती हैं। जीवनी में बार-बार जिस एक प्रसंग का ज़िक्र होता है वह यह कि **एम.जी.आर.** ने 110 तोले सोने की तलवार भारत-चीन युद्ध के दौरान 1962 में नीलाम कर युद्ध-फंड में दान इकट्ठा किया। अक़्सर बढ़ा-चढ़ा कर फैलाया जाता है कौन 110 तोले की तलवार यूँ दान करेगा, वह तो एम.जी.आर. महान् है।" लोगों में सोने के प्रति अतिमोह है, और ऐसा प्रचार निःसंदेह एम.जी.आर. की धन के त्यागी की सूरत बनाने में प्रभावकारी मदद करता है। यदि **एम.जी.आर.** ने अपना फ़िल्मी कैरियर त्याग मुख्यमंत्री बनना स्वीकार किया तो यह भी कुर्बानी है:

"... यदि चार या पाँच फ़िल्में बनाता तो करोड़ों रुपये कमाता। सब मालूम है उसे। फिर क्यों नहीं फ़िल्म में काम करता? फ़िल्म में काम करे कोई कानून रोकता थोड़ी है... मालूम क्यों फ़िल्म में काम नहीं करता? वह तमिलनाडु के लोगों की सेवा करना चाहता है। वह उनकी समस्याओं को ख़त्म करना चाहता है।

एम.जी.आर. की तथाकथित अपराजेयता, अक़्सर अनेक तरह के मीडिया के द्वारा जमायी गयी— इतनी बड़ी कि स्क्रीन पर जो **अमरत्व** उसके पास था वो ही वास्तविक जीवन में भी प्रदान हुआ। वह ऐसा प्रस्तुत किये गये जैसे तीन बार पैदा हुए हों: पहला कि जैसे हर कोई पैदा होता है, दूसरा कि जब उसके जीवन को ख़त्म करने का प्रयास 12 जनवरी 1967 में उसके फ़िल्मी संसार वाले सहयोगी एम.आर. राधा ने किया था और वह बच गये, और तीसरा कि 1984 में क़त्तई नाउम्मीद होकर भी जानलेवा बीमारी से बच गये। दरअसल, अनेक डी.एम.के. नेताओं के विपरीत, एम.जी.आर. का जन्मदिन मनाया नहीं जाता और उसकी उम्र छिपायी जाती रही। सन् 1967 के बाद से, उनके चेलों को **13 जनवरी** का दिन गोली लगने के ज़ख़्म से बचने के दिन की तरह रखते हुए उसे ही जन्म-दिन की तरह मनाने के लिए उकसाया गया। आत्मकथा मे एम.जी.आर. ने लिखा: "जैसा सब जानते हैं कि 12 जनवरी 1967 को मुझे गोली मारी गयी। लोग सोचते हैं उस दिन मर गया और 13 जनवरी को पुनर्जीवित हुआ। इसीलिए उस दिन मुझे बधाई देते हैं।" इस प्रकार, **एम.जी.आर.** की जीवनी की इन विशिष्ट *संरचनाओं* के द्वारा, उसकी फ़िल्में वास्तविक ज़िन्दगी को ही निरूपित करती है। कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें सिनेमेटिक और वास्तविक की दूरी को *मिटाने* के प्रयास प्रभावशाली बने हैं। जी.के. रामास्वामी (1979 : पृ. 55) ने अपने अध्ययन में **एम.जी.आर.** प्रशंसा-क्लब के सदस्यों की टीका की है:

सदस्य फ़िल्मों के द्वारा रचे गये प्रभावों के अतिरिक्त कुछ सोच नहीं पाये और **एम.जी.आर.** का चरित्र फ़िल्मों द्वारा प्रतिपादित-चरित्र ही सच्चा मान लिया गया। यह इस बात से साबित हुआ जब उनसे

एम.जी.आर. के अच्छे या सिद्धांतशील व्यक्ति मानने का प्रमाण माँगा गया तो उन्होंने फ़िल्मों से उदाहरण प्रस्तुत किये।

इस वावत कि लोग किस प्रकार **फ़िल्मी— एम.जी.आर.** और **वास्तविक—एम.जी.आर.** के बीच फ़र्क़ नहीं करते, यह सर्वाधिक पक्की तरह से तब पता चल गया कि जब **एम.जी.आर.** 1984 में गंभीर रूप से बीमार पड़े। **ओल्ही विलाकू** (1970) में, कि जो उनकी सौवीं फ़िल्म है, एम.जी.आर. मौत के ख़िलाफ़ हारती हुई लड़ाई लड़ते दिखाये गये हैं। एक विधवा कि जिसे **एम.जी.आर.** ने आश्रय दिया, ईश्वर के आगे प्रार्थना गाती है (आँसू भर भर) कि **एम.जी.आर.** की जान बचा ले, बदले में उसकी जान ले ले। यह गाना, जब तक **एम.जी.आर.** बीमार रहे, समूचे तमिलनाडु में गूँजता रहा। यदि फ़िल्म में ईश्वर ने **एम.जी.आर.** की जान बचा ली, तो वास्तविक जीवन में भी बचायेगा! और सच में वे बच गये! अंततः जब मरे, इतने एकाएक कि लोगों के पास कोई विकल्प नहीं था!

अतः, एम.जी.आर. फेनोमना और उसके समर्थक *प्रबुद्ध-वर्ग* का महत्व, इस जानकारी में बसा है, कि निम्नवर्गीय जातियों का सामान्य-बोध या ग़ैर-सैद्धान्तिक दर्शन राजनीतिक-दख़ल के लिए महत्वपूर्ण क्षेत्र है। संघर्ष के इस क्षेत्र का उपयोग कर (कि जो अन्य राजनीतिक शक्तियों के द्वारा उपेक्षित रहा), और प्रतिक्रियावादी राजनीति के लिए सामान्य बोध के प्रगतिशील-तत्व को पुनर्गठित कर, एम.जी.आर. ने स्वयं को मदुराई वीरन, मुथुपट्टन, और कथावरायन की श्रेणी में शामिल कर उन्हें भी पार किया। एम.जी.आर. की सफलता का बड़ा राज यही है।

दुर्भाग्यवश, तमिलनाडु के राजनीतिक विरोध की विभिन्न सूरतें, जिनमें डी.एम.के. से लगा कर सी.पी.आई. (एम.एल.) भी शामिल हैं; एम.जी.आर. को महज़ पगला या जोकर कहती आयी हैं। वक़्त आ गया है कि जब ये स्वयं-आश्वस्त *दार्शनिक* ठंडे दिमाग़ से सोचे और **पागलों** एवं **जोकरों** से कुछ पाठ सीखें— **एम.जी.आर.** स्टाइल की प्रतिक्रियात्मक राजनीति की प्रेक्टिस करने के लिए नहीं बल्कि उसके विरोध को सही ढंग से साधने के लिए।

अनुवादः इंदुप्रकाश कानूनगो

टिप्पणियाँ

1. ओड़िसा के गाँव के एक हरिजन मज़दूर, **मुली**, के बारे में जेम्स फ्रीमैन (1979) अध्ययन और दक्षिण [illegible] जिले के [illegible] गाँव की **पारियान** जाति का अध्ययन. ये दोनों अध्ययन कतिपय अपवाद कहे जा सकते हैं, जो उल्लेखनीय हैं।

2. एम.जी. रामचन्द्रन, 1977 से 1987 तक तमिलनाडु के मुख्यमंत्री बने रहे (केवल कुछ दिन, 1980, के छोड़कर)। वे 1917 में कैंडी (श्रीलंका) में पैदा हुए। अत्यन्त गरीबी की मार खाया बचपन रहा और [illegible] उम्र में एम. कंडास्वामी पिल्लई की **मदुराई ऑरिजिनल बॉयज कम्पनी** में बालक-अभिनेता (बाल्य-कलाकार) के रूप में अपना कैरियर आरंभ किया। ज़बर्दस्त संघर्ष के बाद तमिल स्क्रीन पर विशाल लोकप्रिय फिल्म स्टार की तरह उभरे। अपने एक्टिंग-कैरियर के साथ-साथ डी.एम.के. की राजनीति में सक्रिय बने रहे; सन् 1972 में अलग पार्टी बनाई: *अन्ना द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम* जिसका इमर्जेंसी के दौरान नया नाम रखा: *आल इंडिया अन्ना द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम।* लम्बी बीमारी और उसमें भी लम्बे संघर्ष के बाद 24 दिसंबर 1987 को तमिलनाडु के गरीबों के अत्यन्त लोकप्रिय नेता के रूप में इहलीला समाप्त हुई।

3. **स्टेट्समेन** जनवरी 17, 1988 के अनुसार।

4. इसका कारण यह कि निम्नवर्गीय जातियों की आर्थिक-जीवन दशाएँ उनके अस्तित्व की यह तात्कालिक चेतना उत्पन्न नहीं करती, कि उनकी **वास्तविक** चेतना प्रभावशाली ढंग से प्रसारित हो। इस तरह **एम.जी.आर.** के लिए संभव था कि वास्तविक समस्याओं को उभारें और काल्पनिक समाधान प्रस्तुत करें।

5. **सामान्य भाव** की ग्राम्सी की अवधारणा के लिए निम्नलिखित लेखकों की पुस्तकें देखें: **सिरेसी** 1982, **डेविडसन** 1984, **पटनायक** 1988, और **साल्दान्हा** 1988 आदि।

6. ग्राम्सी के अनुसार (1973 : पृ. 332-33): "यदि वह (यानी **फिलासफ़ी ऑन प्राक्सिस**) बुद्धिजीवियों और साधारणजन के बीच सम्पर्क की पुष्टि करती है तो वैज्ञानिक-एक्टिविटी को नियंत्रित करने और जनता के निचले तबकों की एकता को क़ायम रखने के लिए नहीं बल्कि ऐसा बौद्धिक-नैतिक ब्लॉक तैयार करने वास्ते है जो जनता के राजनीतिक विकास को राजनीतिक तल पर संभव बना सके, न कि केवल छोटे से बौद्धिक समूहों को।"

7. उसके एकदम बाद **एम.जी.आर.** ने 1972 में **अन्ना द्रमुक** की स्थापना की, और **डी.एम.के.** ने **तमिलर पदाई** नामक संघटन को प्रोत्साहित किया। **तमिलर पदाई** के सदस्य (नागर तटस्थ ग़ैर-राजनीतिक मजदूर) अपना ज़ोर लगाकर एम.जी.आर. फ़िल्मों के प्रदर्शनों का विरोध करते।

8. **तुगलक,** 1, फरवरी, 1984

9. **एम.जी.आर.** विष्णु के रूप में **दक्षायगम** (1938) में, इन्द्र के रूप में **प्रहलाद** (1939), परमेश्वर के रूप में **श्री मुरुगम** (1946) में और इन्द्रजीत के रूप में **सीता जननम** में प्रस्तुत हुए।

10. इस निबन्ध में दर्शाये गये फ़िल्मों के नाम सिर्फ़ उदाहरण हैं। यही पैटर्न **एम.जी.आर.** की सैंकड़ों फ़िल्मों में बना रहता है, केवल थोड़े बहुत अन्तर के साथ।

11. इस पर सामान्य वहस के लिए, औपनिवेशिक भारत में किसान उपद्रवों के उदाहरणों के साथ लिखा विवरण गुहा की पुस्तक में देखा जा सकता है: 1983, अध्याय 2 में। "दैनन्दिन व्यवहार-आचार का मना के इन संकेतों में लाक्षणिक-विभेदन" के विषय पर **बैक** (1972 : पृ. 155) लिखते हैं: "... भोजन कुछ समूहों में बँटता है, दूसरों में नहीं, और नामजद समुदाय के मेहमान निमंत्रित रहते हैं जिन्हें किसी घरों के पोर्च में, किसी घरों के आँगन में बिठाया जाता है। इसी तरह की ऊँच-नीच नाम पुकारने में भी होती है, और वार्तालाप के दौरान हाव-भाव दर्शाने में भी। उदाहरणार्थ, किसी एक समुदाय का आदमी बोलते वक्त मुँह पर हाथ धरेगा, तो दूसरा ज़मीन की ओर देखेगा, और कि दबंग जाति का आदमी सीना तान हाथ बाँधे तीखी नज़रों से ताकेगा। पहनावे में भी यही स्थिति रहती है। स्त्रियाँ जब कि वे बड़ों के आगे हों, दोनों कंधों पर साड़ी का पल्लू रखेंगी। आदमी कमीज़ को नीचे गिरा रखेंगे— घुटनों तक— *बड़ों* के आदर में।" तमिलनाडु में इस तरह के **भेदभाव** पर अनेक अध्ययन हुए हैं (**रामचंद्रन और मनोहरन**, 1981; डेन आउडेन,

. 1979; **रामास्वामी**, 1983; नायडू, 1988; **मुथैया, 1989**)। अनेक न्यूज़-रिपोर्ट भी प्रकाशित हुई हैं। यह सिर्फ हिन्दुओं में ही नहीं वरन्, वनियार इसाईयों और हरिजन इसाईयों के बीच भी है।

इन पत्रों में टिप्पणियाँ इस तरह हैं: "रिक्शा के ऊपर **एम.जी.आर.** की फाइटिंग कमाल है।" और "रिक्शे में बैठे **एम.जी.आर.** गजब जानदार है।" और, "**एम.जी.आर.** ने फाइटिंग में जान डाल दी। दुनिया का कोई कलाकार ऐसी फनकारी नहीं कर सकता।"

सामाजिक डाकुओं के विषय में **हॉब्सबॉन** ने लिखा है: (1985 : पृ. 35) : "ये वे लोग हैं जिनकी समाज के हर तबके में इज्जत अपने रोब से बनायी हुई है— ऐसा कर वे उनके सच्चे पुरखों की भूमिका को चुरा लेते हैं।

एस. कृष्णस्वामी, "हीरो से मसीहा बनने सोपान पर...।" (इंडियन एक्सप्रेस, 9 जनवरी1988)।

जूनियर विकातन, 9 सितम्बर 1987. यद्यपि रिपोर्ट में ब्यौरा नहीं है, फिर भी मालूम पड़ता है कि इस प्रकार अपमानित स्त्रियाँ गरीब-घरों की और निचली जातियों की ही रहती हैं।

ब्लैकबर्न और **लूरदू** (1978, 1979)

ग्राम्सी (1985 : पृ. 372-74)

हार्डीमैन (1987 : पृ. 169-70)

वीरगाथा के क्रांतिकारी सार को घटा देना एक नियमित प्रक्रिया है। इस बाबत **वन्नामलाई** (1981 : पृ. 187) ने दिलचस्प उदाहरण दिया है : मुथापुट्टन की वीरगाथा के ताज़ा गायनों में **चाक्किलियार** द्वारा पोषित उसकी पत्नियां ब्राह्मण कन्याएं बताई गयी हैं। पूछने पर पता चला कि **कल्लीडाईकुरिचि का मुथुपावलार** (कि जो वीरगाथा का गायक है) वह उच्चवर्णी **वेल्लालरों** और **ब्राह्मणों** द्वारा धौंस दी गयी कि काव्य को बदल दे। इसी तरह, वीरगाथाओं में ऐसे पौराणिक जोड़-तोड़ किये गये कि निम्नजातीय **मदुराई वीरन** और **कथावरायन** को ब्राह्मण बता दिया गया। (ब्लैकबर्न, 1978 : पृ. 140-43)। अब यह तो मालूम ही है कि **वीरगाथा-काव्य** मुँह जबानी प्रचलित रहे आये हैं, अतः कालान्तर में बदलते सामाजिक परिवेश और दबावों के कारण खुद-ब-खुद बदल जाते हैं। इस तरह वे बे-सिरे और अनेकानेक परिवर्तनों के लिए लचीले हैं।

...नामलाई (1981:101), और अरू अलागाप्पन (1973).
...पा **कदिर**, अगस्त 1970, पृष्ठ 70-73.
...निधि, 1987: II, 421-23.
...ध्यान दें ए बी वी पी और आर एस एक कट्टाब्रामोन्न की जयंती हर वर्ष मनाते हैं (देखें: **मनावर सत्ती**, नवंबर 1,- 1988 पृष्ठ 14).
...अफ्रो-एशियाई फिल्म समारोह, कैरो 1960 में फ़िल्म को सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का पुरस्कार मिला.
...**स्क्रीन**, दिसंबर 19, 1986.
...उदाहरण के लिए देखें: कलाईपदम वेलन, नान येन पिरान्थेन? पुरात्शी थालाईवार एम जी आर, मद्रास, बिना तिथी, पृष्ठ 26. जया पोन मुड़ी, सध्य मेइन्थन सदानाई, श्री लक्ष्मी परशुराम, मद्रास, 1988, पृष्ठ 6.
...शेष निबंध में हम *लोकप्रिय जीवनियों* की तरह कुछ ऐसी ही पुस्तकों को संदर्भित करेंगे।
...एम.जी.आर. पर केन्द्रित सी.एन. अन्नादुरई के भाषणों के संग्रह के लिए, देखें: आर. श्रीनिवासमूर्ति, एम.जी.आर.: येन इदाया कानी: अन्ना सध्य ताई परिपागम, मद्रास, 1984.
...मालई मुरासु, जुलाई 6, 1987.
...उदाहरण के लिए देखें: वेत्री सलेवार एम जी आर वीरा वारालारु, श्री धान लक्ष्मी पुथागा निलयम, मद्रास, पृष्ठ 35, बिना तिथि.
...कालई पादम वेलन, पृष्ठ 63
...एम.जी. रामचंद्रन, *नान येन पिराथन* भाग 45, *आनंद विकटन* फरवरी 14, 1971.

संदर्भ

अलागाप्पन, अरु, 1973, **नाट्टुप्पुरा पादालगाल—थिरानायुव**, मद्रास (तमिल में).
बेक, ब्रेन्डा, ई.एफ., 1972, **पीसेन्ट सोसायटी इन कोन्कू**, यूनिवर्सिटी ऑफ ब्रिटिश कोलंबिया प्रेस, वेनकोवर.
ब्लैकबर्न, स्टुअर्ट एच, 1978, **द फोक हीरो एंड क्लास इंटरेस्ट इन तमिल हीरोइक बाल्लाड्स**, एशियन फोकलोर स्टडीज, 37 (1).
बोरेव, यूरी, 1981, **एस्थेटिक्स : ए टेक्स्ट बुक**, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मस्क्वा.
चक्रवर्ती, दिपेश, 1984, **ट्रेड यूनियन्स इन ए हिस्टारिकल कल्चर : द जूट वर्कर्स ऑफ कलकत्ता**, 1920-50", रंजीत
गुहा की पुस्तक सबेल्टर्न स्टडीज, वाल्यूम-III, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.
सिरेस, अल्बर्टो माइकेल, 1982, **ग्राम्सीज़ आब्जर्वेशन फोकलोर** शोस्टेक सासून की पुस्तक "एप्रोचेस टू ग्राम्सी" राइटर्स
एंड रीडर्स लंडन.
डेविडसन, अलास्टीर, 1984, **ग्राम्सी दि पीसेन्ट्री एंड पापुलर कल्चर** पीसेन्ट स्टडीज की पत्रिका, I(4), जुलाई.
डिमेल, पूर्णम्, एम एक्स, 1988, **कास्ट डिस्क्रीमिनेशन अगेंस्ट क्रिश्चियन्स ऑव् शेड्यूल्ड कास्ट ओरीजिन विदिन**
क्रिश्चियन कम्यूनिटीज़ : ए स्टडी ऑव् टू विलेजेस इन तमिलनाडु, चिदम्बरम् (अप्रकाशित एम.फिल. थीसिज : अन्नामलई
यूनिवर्सिटी को सौंपी गयी).
डेन बडन, जे एच बी, 1979, **सोशल स्ट्रेटीफिकेशन एज एक्सप्रेस्ड थ्रू लैंगुएज : ए केस स्टडी ऑव् साउथ इंडियन**
विलेज, कांट्रीब्यूशन टू इंडियन सोशालाजी (एन.एस.), 13(1), जनवरी-जून.
देसाई, ए आर, 1979, **पीसेन्ट स्ट्रगल इन इंडिया**, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, दिल्ली.
1986, **अग्रेरियन स्ट्रगल्स इन इंडिया आफ्टर इन्डिपेन्डेंस**, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.
फ्रीमेन, जेम्स एम, 1979, **अनटचेबल : एन इंडियन लाईफ हिस्ट्री**, जार्ज एलन एंड अनविन, लंडन
गुड, एंथनी, 1983, **ए सिम्बालिक टाइप एंड इट्स ट्रांसफर्मेशन : द केस ऑव साउथ इंडियन पोंकल**, कांट्रीब्यूशंस
टू इंडियन सोशालाजी, 17(2), जुलाई, दिसम्बर.
ग्राम्सी, एंटोनियो, 1973, **सिलेक्शंस फ्राम द प्रिजन नोटबुक्स**, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क.
1985, **सिलेक्शंस फ्राम कल्चरल राईटिंग्स**, लारेंस एंड विशर्ट, लंडन.
गुहा, रंजीत, 1982, **सबेल्टर्न स्टडीज : राईटिंग्ज़ आन साउथ एशियन हिस्ट्री एंड सोसायटी**, वाल्यूम 1, आक्सफोर्ड
यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली (वाल्यूम II, III, IV, V एंड VI आफ सबेल्टर्न स्टडीज वेयर पब्लिश्ड रेस्पेक्टीवली इन 1983,
1984, 1985, 1987 एंड 1989).
गुहा, रंजीत, 1983, **एलीमेंटरी आस्पेक्ट्स ऑफ पीसेंट इन्सर्जेन्सी इन इंडिया**, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.
हार्डग्रेव, जूनियर, राबर्ट एल, 1979, **व्हेन स्टार्स डिस्प्लेस्ड द गाड्स: द फोक कल्चर ऑव् सिनेमा इन तमिलनाडु**
उनका निबंध पालिटिकल सोशालाजी ऑफ साउथ इंडिया, उषा पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

उड़ती हुई पतंगें

अंजली मोंटेरियो

परिचय

ल ही में टेलीविज़न कार्यक्रमों में उभरी शक्तिशाली महिला की थीम राजनीतिक ग और राज्य की आधुनिकीकरण परियोजना के सन्दर्भ में अवस्थित है। हमारी कृति में, नारी-शक्ति को दिया गया पारंपरिक स्थान एक व्याख्या है कि टेलीविज़न ग और शक्ति के सम्बन्ध में कैसे बरताव करता है। इससे आधुनिक-नागर-सांस्कृतिक-दिक् रचित लिंग की विशेषीकृत पहचान की रूपरेखा तैयार करने में मदद मिलती है। आलेख में इस सब पर फ़ोकस करने की कोशिश की गयी हैः

यह समझने की, कि कैसे दूरदृश्य (टेलीविजुअल) निबन्ध लिंग और शक्ति के बीच सम्बन्ध रचता है, सन्दर्भ के बिन्दु के रूप में दो लोकप्रिय दूरदृश्य (टेलीविजुअल) सीरियल **आह्वान** और **उड़ान** लिये गये हैं।

यह परीक्षित करने के लिए के कैसे लिंग और शक्ति के बीच का सम्बन्ध सांस्कृतिक रूप से प्रमुख लिंग-पहचान का प्रतिज्ञान करता है और आधुनिक स्थिति के सन्दर्भ में इन सरोकारों को अवस्थित करना, इसके क्रम और इसके क्रम के रूप को तय करना।

ान कोई तथ्य नहीं है : यह एक संरचना है। यथार्थवाद का विशेषीकृत वर्गीकरण ाजक-व्यवहार का विस्तार है जो अधिकल्पना-प्रस्तुतीकरण की पहचान को दर्शाता स्वस्थ-चित्त और उन्मत्त, कानून मानने वाला और अपराधी, स्वस्थ और अस्वस्थ, और स्त्री—यह सब इस विभाजक व्यवहार की अधोरेखित युक्ति-मूलकता के ी हैं। उन्मत्त, अपराधी, अस्वस्थ और नारी के वर्गीकरण, निरीक्षण और नियंत्रण ैज्ञानिक विधान हमेशा स्वस्थ-चित्त, कानून मानने वाले, स्वस्थ-पुरुष से अधिस्वीकृत हैं: खुद को नियामक बतौर परिभाषित होने में पहले वाला, बाद वाले के ध में हमेशा अनुग्रहीत अनुभव करता है। युक्ति-मूलकता-अधिष्ठान के इन ठेठ ारों से जैविकी अर्थों में रूपांतरित लिंग निराश करते हैं। *प्रकृति* और *प्राकृतिक* की विशेषीकृत रचना का आव्हान करती है। शक्ति ष्टता, *पुरुष* और *नारी* पहचान की विशेषीकृत रचना... जो ये पहचान रचते हैं राज्य और परिवार के प्रतिरोध के विशेषीकृत रूप भी, जो ये पहचान रचते हैं; सार्वजनिक और निजी, न हैं। पुरुष शक्ति एक प्रतिमान के रूप में उभरती है; फैलते हुए नारी शक्ति स्थानों पर, लेकिन अभी तक अखंडित रूप से नहीं, कोई देख सकता है कि सांस्कृतिक प्रतिरोध के ख़तरों से रूबरू होती है। कोई देख सकता है कि सांस्कृतिक ने इन ख़तरों को रोकने और पुरुष-विधान को फिर से पुष्ट करने की कोशिश है।

2. आव्हान

दर्शकों द्वारा मराठी सीरियल **आव्हान** की पहचान एक *प्रगतिशील* सीरियल के रूप में की गयी है जो कि स्त्री-विमुक्ति और दहेज-विरोधी प्रचार के एक भाग के रूप में *ज्वलंत सामाजिक मुद्दों* —दहेज और दहेज मृत्यु पर केन्द्रित है। सीरियल में संलग्नता बड़ी गहरी है। दर्शकों ने इसके एपीसोड्स पर वहस की, दूसरों को इसकी कहानी फिर से सुनायी, परिणामों के पूर्वानुमान किये, कहानी को वास्तविक जीवन की—ससुराल सम्बन्धियों द्वारा दी जाने वाली प्रताड़ना और दहेज-मृत्यु के साथ जोड़ा। कथानक एक शक्तिशाली माँ और उसके कमज़ोर वेटे के जो कि उसके प्रभाव में हैं, आसपास घूमती है। पिता एक अच्छा आदमी है, और माँ की दुष्टता के सामने निरुपाय है। माँ-बेटे की जोड़ी बहू को दहेज के लिए प्रताड़ित करती है, पहली बहू की मृत्यु कहानी के प्रारंभ में ही हो चुकी है, उसे आत्म हत्या के लिए विवश किया गया था। आख्यान शुरू होता है दूसरी बहू की माँ और बेटे के हाथों प्रताड़ना और जुल्मों के साथ। पिता द्वारा वचाने की एक सामान्य-सी कोशिश भी की जाती है पर अंततोगत्वा उसे आत्म-हत्या करना पड़ती है। तीसरी बहू फिर भी, एक कठोर मिजाज़ नारी है। पिता और नवगठित **सोबती संघटना** (नारी की वराबरी के लिए गठित संस्था) के साथ वह माँ-बेंटे को पाठ पढ़ाती है। अंत में, माँ विनष्ट हो जाती है और बेटा भाग जाता है।

आख्यान की रचना अच्छे-बुरे ध्रुवों के आसपास हुई है। पिता और बहू पहले वाले का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा माँ और बेटा बाद वाले का। बुराई, भौतिक संग्रह के आकर्षण, धन-लिप्सा और रूढ़िवादिता से सम्बद्ध है। वाणी का (दूसरी बहू) पूरे वेग के साथ गाया गया गीत, प्रकृति के प्रति उसके प्यार, वर्हिजगत् के साथ उसकी घनिष्ठता, माँ-बेटे द्वारा रचित संवृत्त स्थानभीतिदिक् (Claustrophobic) के प्रतिकूल है, उसे भगवान की छवि और धार्मिक गुणगान से भरा गया है। पिता भी इस दिक् से पलायन करता है। उसे खुले आकाश के नीचे आलूबड़ा खाते हुए गुज़रा हुआ अपना समय बड़ा प्रिय है। प्रकृति (स्वतंत्र, ईमानदार) और संस्कृति (परतंत्र, मिथ्याचार) के बीच संघर्ष में, पहले दौर में बाद वाले जीतते हैं। परिरोधित दिक् में बुरी-ताक़तों द्वारा जकड़ी गयी, प्रकृति और संगीत के साथ अपने ऊर्जादायी सम्बन्धों से वंचित वीणा, जो अच्छाई का मूर्त रूप है, अपना जीवन ख़त्म कर लेती है।

आख्यान के इस विन्दु पर, सोबती संघटना के रूप में सामूहिक नैतिकता तथा तीसरी बहू का प्रवेश शक्ति संतुलन वदल देता है। यह संभावित सामूहिक अच्छाई निजी धन-लिप्सा पर विजय दिलाती है। आख्यान के बीच ध्रुवीयता नीचे लिखे अनुसार प्रतिनिधित्व करती है:

अच्छाई की ताक़तें	बुराई की ताक़तें
• पिता, बहू	माँ, बेटा
• निस्वार्थ : असांसारिक	लोभी / सांसारिक
• ईमानदार	मिथ्याचार
• पलायन / स्वतंत्रता	फँसाना / परतंत्रता
(बुलंदी से गाया गया गीत, आउटडोर के साथ घनिष्ठता)	(मौन धार्मिक गुणगान, आभ्यंतर के साथ घनिष्ठता)
• प्रकृति के साथ सम्बन्ध (पौधों की देखभाल)	धन के साथ सम्बन्ध (हिसाब-किताब रखना)
• सामूहिक अच्छाई	व्यक्तिगत बुराई

माँ अपने बेटे पर शक्ति आज़माना चुनती है। उसका अपने बेटे पर आधिपत्य और अपने पति का अनादर, सांस्कृतिक रूप से स्वीकृत नारी-भूमिकाओं के पूरी तौर पर प्रतिकूल है :

पिता को कठोर होना चाहिए। वहाँ पिता का भय होना ही चाहिए। माँ द्वारा बच्चों को यह सिखाना चाहिए। उन्हें अपने पिता के लिए प्रेम और भय दोनों ही रखना चाहिए। कभी-कभार यदि पिता ख़राव हो तो माँ उसकी निन्दा करती है, उसे यह नहीं करना चाहिए। उसे हमेशा अच्छा बना रहना चाहिए पति चाहे कुछ भी करे या कहे। पति यदि बुरा हो तो पत्नी उसे अच्छा बना सकती है। किन्तु, इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

माँ द्वारा शक्ति का उपयोग असाधारण तथा दुष्टता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता क्योंकि शक्ति आदमी के प्रभुत्व, उसके स्थितिजन्य और प्राकृतिक विशेषाधिकार के रूप में स्वीकृत है। आदमी द्वारा ताक़त का इस्तेमाल तर्कमूलक ही रहता है। जो अप्राकृतिक है, वह है—स्त्री द्वारा शक्ति का उपयोग, इस बारे में चर्चा की जानी चाहिए। कुछ महिलाएँ झूठी, नियंत्रित ताक़त के साथ किसी एक पुरुष को फँसाने का इंतज़ार करती हैं। इस प्रकार श्री अपनी माँ की शक्तिकांक्षा का शिकार है। उसका रूपांकन एक अनिवार्यतः कमज़ोर, संघर्ष के क्षणों में टूट जाने वाले, माँ से चिरस्थायी सहारा ढूँढने वाले के रूप में हुआ है। आख्यान की संरचना, साथ ही साथ दर्शक का माँ-बेटे के सम्बन्धों का विवक्षित बिम्ब और बुरी/नाशकारी माँ के समूल का अध्ययन उसे बुराईयों के स्रोत के रूप में दर्शाता है। बेटा, अपनी माँ की बुराई की शक्ति का केवल एक औज़ार बना हुआ है। सम्पूर्ण आख्यान में पुरुष द्वारा शक्ति के इस्तेमाल पर कोई सवाल खड़ा नहीं किया गया है। पिता बेटी की शादी की व्यवस्था तथा सम्बन्धित मामलों को सुनिश्चित करता है। यहाँ तक कि उमा, एक स्वाधीन कराटे विशेषज्ञ, शरमाते हुए अपने पिता की माँग से सहमति व्यक्त करती है कि वह शादी उसकी मर्ज़ी से करके उसे उसकी ज़िम्मेदारी से मुक्त कर देगी। उमा बहादुर महिला होकर भी पुरुष के अदृश्य और प्राकृतिक आदेश का अनुपालन करती है।

इस प्रसंग में नारी की शक्ति और बल में अंतर करना आवश्यक है। नारी की शक्ति, परिस्थितियों के बंधन में, जब तक कि पुरुष के विशेषाधिकार के लिए चुनौती नहीं बनती तब तक ही पुरुष को स्वीकार्य होगी। **आव्हान** में पुरुष की शक्ति की मदद से नारी अपने बल से बुरी स्त्री की शक्ति को शून्य और नष्ट कर देती है। शक्ति की अवतार उमा का प्रत्याक्रमण पूर्णतः न्यायसंगत है **उसका आव्हान** : उसका मुख्य लक्ष्य एक दूसरी स्त्री है। जब वह अपने पति का विरोध कर रही होती है, तब भी वह केवल प्रतिनिधि रूप में नारी शक्ति का उपयोग करती है। दर्शक महसूस करते हैं कि प्राकृतिक-पुरुष-विधान की जगह से वे बुरी और अप्राकृतिक नारी शक्ति के विरुद्ध आक्रमण में उसके साथ हैं।

इस पुरुष-विधान में *नारी विमुक्ति* के लिए स्थान है। सोबती संघटना की स्थापना, मंदिर में नारी दमन की चर्चा के लिए एकत्र उत्साही युवकों द्वारा की गयी है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शहरों में शिक्षा और आर्थिक स्वतंत्रता के साथ नारी का क़द भी बेहतर हुआ है। नारी-दमन ग्रामीण क्षेत्रों की समस्या है, जहाँ परम्पराएँ मज़बूत हैं और शिक्षा का अभाव है। अंतिम उदाहरण में, नारी का दमन शिक्षा के अभाव के कारण ज़्यादा है। आधुनिक, शिक्षित नारी उमा जो पुरुष वर्ग की युक्ति-मूलकता के बीच में रहती है, शिक्षित नारियों का प्रतीक और प्रतिनिधि है।

सीरियल में चित्रित दमन और स्वतंत्रता आधुनिक तथा परम्परागत सच्चाई/स्वतंत्रता हटकर है। परम्पराओं को झूठ और दमन और शक्ति के समीकरणों से परे रखा है। आधुनिकता समतावादी शक्ति समीकरणों से अलग रहकर सच्चाई का ...त्व करती है। सोबती संघटना के युवक और स्त्रियाँ शक्ति से परेसत्य को हैं। वे स्त्री के दमन में शामिल नहीं हैं, वे उनकी समस्याओं के सत्य को समझते हैं और उनके संघर्ष में सम्मिलित भी होना चाहते हैं ताकि दमनात्मक परम्पराओं को बदलकर वे स्वतंत्र आधुनिकता में सम्मिलित हों। आज जबकि दहेज एक फेनोमिना में बदल गया है, यह सीरियल जतलाता है कि यह सब परम्परागत रूप से चलन में है और इसे ख़त्म किया जा सकता है, यदि नारी शिक्षित और आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर हो।

शिक्षा और उपार्जन पुरुष वर्ग की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। दमन से नारी की विमुक्ति वास्तव में नारीत्व (कमज़ोर, पिछड़ापन और अविवेक) से परे हटकर विवेकपूर्ण पुरुष प्रबन्ध में परिभाषित है। नारी के दमन का प्रश्न केवल **राजनीतिक** ही नहीं है बल्कि वह शक्ति के ग़ैर बराबर बहाव से सम्बन्धित भी है जो कि **तकनीकी** है जिसका (शिक्षा और रोजगार के अवसरों) आधुनिकता की ओर अग्रसर करते हुए निराकरण किया जाना है। शिक्षा के निर्माता और परम्पराएँ जिनसे कि स्त्री विभाजित और परिभाषित होती है पुरुष के बारे में कुछ अच्छा नहीं कहते। सभी पुरुष, चाहे वे शिक्षित हों या अशिक्षित, शहरी हों या ग्रामीण, पारंपरिक हों या आधुनिक वे मात्र पुरुष वर्ग के हैं सिवाय तब जब नारी ने उन्हें अयुक्तिमूलकता से दूषित कर दिया हो। सोबती संघटना में पुरुष/नारी भूमिकाओं के रूपांकन में पुरुष अधिक विवेकी, सचेत तथा अच्छे ज्ञान से समृद्ध हैं जबकि उसी वक़्त स्त्रियाँ और बच्चे

कई बार प्रतिरोध और हिंसा की भूमिकाओं के हैं। वहाँ हिंसा की दो घटनाएँ हैं जब श्री पर हमले होते हैं एक स्त्री और बच्चे द्वारा। दोनों ही प्रकरणों में पुरुष समझौता और शांति स्थापित करता है। सीरियल अपने दृश्यांकन में वकालत करता है कि महिलाएँ अपने दमन के लिए स्वयं ज़िम्मेदार हैं—सबसे पहली बात, क्योंकि "नारी ही नारी की सबसे बड़ी दुश्मन है" इसलिए घर के अन्दर पुरुष पर नियंत्रण के लिए लड़ती रहती हैं, और दूसरी बात, क्योंकि वे कमज़ोर और अशिक्षित हैं। पुरुष शक्ति के समीकरणों से बाहर और परे है और नारी के दमन की समस्याओं का वस्तुपरक विश्लेषण करने में समर्थ है गोकि वह इस सब के लिए ज़िम्मेदार नहीं है पर फिर भी उसका हल करने के लिए प्रतिबद्ध है।

आव्हान ने आख्यानात्मक संरचना के लिए काफ़ी प्रसिद्धि हासिल की, और दर्शक शीघ्र ही *अच्छी शक्तियों* के प्रतीक के रूप में नारी का प्रतिनिधित्व दहेज की *बुरी शक्ति* के विरोध में पाते हैं। इसी सीरियल में इसी वक़्त लैंगिक पहचान और शक्ति सम्बन्धों की संरचना की फिर से पुष्टि भी की जाती है। यह दोहरा चरित्र जो एक तरफ़ दर्शक को प्रगतिशील, आधुनिक, स्वयंसिद्धा स्थिति और साथ ही नारी के दमन की प्रतीति कराता है और दूसरी तरफ़ उसका/उसकी लैंगिक पहचान और शक्ति सम्बन्धों की अवधारणा को जोख़िम में नहीं डालते हैं जिसकी वजह से यह सीरियल लोकप्रिय और सुखपूर्ण रचना बन सका है। अच्छे/बुरे, पुरुष/स्त्री, की प्रस्तुति *नारी प्रकृति* और *पुरुष प्रकृति* अंकित है। नारी विरोधाभास और तर्कहीनता से भयभीत है। नारी धूर्त हो सकती है। नारी धूर्त है; वे धन-आभूषण, सम्पत्ति की उपभोक्ता हैं। पुरुष अखंडित, कर्ता, तार्किक और विरोधाभासों का विश्लेषण करने की योग्यता रखता है। पिता माँ से विरोधाभासों की ओर इंगित करता है, जबकि वह कार्यशील नारी अपनी बहू को काम पर जाने से रोकती है। और केवल वही आदमी लालची और धूर्त होता है जो किसी नारी के प्रभाव में होता है।

लिंग और शक्ति के बीच सम्बन्धों को नीचे लिखे अनुसार प्रस्तुत किया जा सकता है—

अच्छा आदमी
प्राकृतिक, विवेकपूर्ण मामले का ही अनुसरण करता है।

बुरा आदमी
स्त्री के प्रभाव में जकड़ जाता है और अपने शक्ति नियंत्रण के अधिकार को खो देता है।

अच्छी नारी
पुरुष के सहयोग से तर्कपूर्ण कार्य करती है और पुरुष को फँसाने की कोशिश नहीं करती।

बुरी नारी
धूर्ततापूर्वक पुरुष के माध्यम से शक्ति नियंत्रण, हमेशा दूसरों पर दमन—सामान्यतः अन्य स्त्रियों पर करती है।

आख्यान के अन्त में, श्री, अपनी माँ से उपयोगित होता हुआ एक सिसकता हुआ बेवकूफ बन जाता है। वह अधिक समय तक माँ का उपकरण नहीं बना रहेगा। इसलिए वह फिर अपने पति की ओर मुड़ती है, उसकी सहानुभूति माँगती है, लेकिन वह उसकी उपेक्षा करता है। अंतिम दृश्य में माँ और बेटे दोनों पर मृत बहू का

इस प्रसंग में नारी की शक्ति और बल में अंतर करना आवश्यक है। नारी की शक्ति, परिस्थितियों के बँधन में, जब तक कि पुरुष के विशेषाधिकार के लिए चुनौती नहीं बनती तब तक ही पुरुष को स्वीकार्य होगी। **आव्हान** में पुरुष की शक्ति की मदद से नारी अपने बल से बुरी स्त्री की शक्ति को शून्य और नष्ट कर देती है। शक्ति की अवतार उमा का प्रत्याक्रमण पूर्णतः न्यायसंगत है **उसका आव्हान** : उसका मुख्य लक्ष्य एक दूसरी स्त्री है। जब वह अपने पति का विरोध कर रही होती है, तब भी वह केवल प्रतिनिधि रूप में नारी शक्ति का उपयोग करती है। दर्शक महसूस करते हैं कि प्राकृतिक-पुरुष-विधान की जगह से वे बुरी और अप्राकृतिक नारी शक्ति के विरुद्ध आक्रमण में उसके साथ हैं।

इस पुरुष-विधान में नारी *विमुक्ति* के लिए स्थान है। सोचनी संघटना की स्थापना मंदिर में नारी दमन की चर्चा के लिए एकत्र उत्साही युवकों द्वारा की गयी है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शहरों में शिक्षा और आर्थिक स्वतंत्रता के साथ नारी का रूप भी बेहतर हुआ है। नारी-दमन ग्रामीण क्षेत्रों की समस्या है, जहाँ परम्पराएँ मज़बूत हैं और शिक्षा का अभाव है। अंतिम उदाहरण में, नारी का दमन शिक्षा के अभाव के कारण ज्यादा है। आधुनिक, शिक्षित नारी उमा जो पुरुष वर्ग की [illegible] के बीच में रहती है, शिक्षित नारियों का प्रतीक और प्रतिनिधि है।

[illegible] में निहित दमन और स्वतंत्रता आधुनिक तथा परम्परागत [illegible] है। परम्पराओं का [illegible] और दमन और शक्ति के समीकरणों से [illegible] है। आधुनिकता समतावादी शक्ति समीकरणों से अलग रहकर सच्चाई को [illegible] करती है। सोचनी संघटना के युवक और स्त्रियाँ [illegible] में [illegible] की [illegible] हैं। वे स्त्री के दमन में शामिल नहीं हैं, वे उनकी समस्याओं के सत्य को [illegible] हैं और उनके संघर्ष में सम्मिलित भी होना चाहते हैं ताकि दमनात्मक परम्पराओं को बदलकर वे स्वतंत्र आधुनिकता में सम्मिलित हों। आज [illegible] [illegible] [illegible] से [illegible] गया है, यह सच्चाई बतलाता है कि यह [illegible] परम्परागत [illegible] से [illegible] में है और इसे खत्म किया जा सकता है, यदि नारी शिक्षित और आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर हो।

शिक्षा और उपार्जन पुरुष वर्ग की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। दमन से नारी की विमुक्ति वास्तव में नारीत्व (कमज़ोर, पिछड़ापन और अविवेक) से परे हटकर विवेकपूर्ण पुरुष प्रबन्ध में परिभाषित है। नारी के दमन का प्रश्न केवल **राजनीतिक** ही नहीं है बल्कि वह शक्ति के गैर बराबर बहाव से सम्बन्धित भी है जो कि **तकनीकी** है जिसका (शिक्षा और रोज़गार के अवसरों) आधुनिकता की ओर अग्रसर करते हुए निराकरण किया जाता है। शिक्षा के निर्माता और परम्पराएँ जिनसे कि स्त्री विभाजित और परिभाषित होती है पुरुष के बारे में कुछ अच्छा नहीं कहते। सभी पुरुष, चाहे वे शिक्षित हों या अशिक्षित, शहरी हों या ग्रामीण, पारम्परिक हों या आधुनिक वे मात्र पुरुष वर्ग के हैं सिवाय तब जब नारी ने उन्हें अयुक्तिमूलकता से दूषित कर दिया हो। सोचनी संघटना में पुरुष/नारी भूमिकाओं के रूपांकन में पुरुष अधिक [illegible] सचेत तथा अच्छे ज्ञान से समृद्ध हैं जबकि उसी वक्त स्त्रियाँ और [illegible]

कई बार प्रतिरोध और हिंसा की भूमिकाओं के हैं। वहाँ हिंसा की दो घटनाएँ हैं जब श्री पर हमले होते हैं एक स्त्री और बच्चे द्वारा। दोनों ही प्रकरणों में पुरुष समझौता और शांति स्थापित करता है। सीरियल अपने दृश्यांकन में वकालत करता है कि महिलाएँ अपने दमन के लिए स्वयं ज़िम्मेदार हैं—सबसे पहली बात, क्योंकि "नारी ही नारी की सबसे बड़ी दुश्मन है" इसलिए घर के अन्दर पुरुष पर नियंत्रण के लिए लड़ती रहती हैं, और दूसरी बात, क्योंकि वे कमज़ोर और अशिक्षित हैं। पुरुष शक्ति के समीकरणों से बाहर और परे है और नारी के दमन की समस्याओं का वस्तुपरक विश्लेषण करने में समर्थ है गोकि वह इस सब के लिए ज़िम्मेदार नहीं है पर फिर भी उसका हल करने के लिए प्रतिबद्ध है।

आव्हान ने आख्यानात्मक संरचना के लिए काफ़ी प्रसिद्धि हासिल की, और दर्शक शीघ्र ही *अच्छी शक्तियों* के प्रतीक के रूप में नारी का प्रतिनिधित्व दहेज की बुरी शक्ति के विरोध में पाते हैं। इसी सीरियल में इसी वक़्त लैंगिक पहचान और शक्ति सम्बन्धों की संरचना की फिर से पुष्टि भी की जाती है। यह दोहरा चरित्र जो एक तरफ़ दर्शक को प्रगतिशील, आधुनिक, स्वयंसिद्धा स्थिति और साथ ही नारी के दमन की प्रतीति कराता है और दूसरी तरफ़ उसका/उसकी लैंगिक पहचान और शक्ति सम्बन्धों की अवधारणा को जोखिम में नहीं डालते हैं जिसकी वजह से यह सीरियल लोकप्रिय और सुखपूर्ण रचना बन सका है। अच्छे/बुरे, पुरुष/स्त्री, की प्रस्तुति *नारी प्रकृति* और *पुरुष प्रकृति* अंकित है। नारी विरोधाभास और तर्कहीनता से भयभीत है। नारी धूर्त हो सकती है। नारी धूर्त है; वे धन-आभूषण, सम्पत्ति की उपभोक्ता है। पुरुष अखंडित, कर्ता, तार्किक और विरोधाभासों का विश्लेषण करने की योग्यता रखता है। पिता माँ से विरोधाभासों की ओर इंगित करता है, जबकि वह कार्यशील नारी अपनी बहू को काम पर जाने से रोकती है। और केवल वही आदमी लालची और धूर्त होता है जो किसी नारी के प्रभाव में होता है।

लिंग और शक्ति के बीच सम्बन्धों को नीचे लिखे अनुसार प्रस्तुत किया जा सकता है—

अच्छा आदमी प्राकृतिक, विवेकपूर्ण मामले का ही अनुसरण करता है।	**बुरा आदमी** स्त्री के प्रभाव में जकड़ जाता है और अपने शक्ति नियंत्रण के अधिकार को खो देता है।
अच्छी नारी पुरुष के सहयोग से तर्कपूर्ण कार्य करती है और पुरुष को फँसाने की कोशिश नहीं करती।	**बुरी नारी** धूर्ततापूर्वक पुरुष के माध्यम से शक्ति नियंत्रण, हमेशा दूसरों पर दमन—सामान्यतः अन्य स्त्रियों पर करती है।

आख्यान के अन्त में, श्री, अपनी माँ से उपयोगित होता हुआ एक सिसकता हुआ बेवकूफ़ बन जाता है। वह अधिक समय तक माँ का उपकरण नहीं बना रहेगा। इसलिए वह फिर अपने पति की ओर मुड़ती है, उसकी सहानुभूति माँगती है, लेकिन वह उसकी उपेक्षा करता है। अंतिम दृश्य में माँ और बेटे दोनों पर मृत बहू का

भूत हमला करता है। माँ एक हादसे में अपने ऊपर आग लगा लेती है जबकि श्री भाग जाता है। अंतिम दृश्य में श्री दौड़ रहा है एक लम्बे अँधेरे रास्ते पर कैमरे से दूर जाते हुए खो जाता है। स्त्री नष्ट हो जाती है, पुरुष जकड़ से मुक्त होकर भाग जाता है। पुरुष एक अनश्वर वाली स्थिति में है। श्री बच जाता है क्योंकि वह बुराई का महज़ एक उपकरण था न कि उसका कोई स्रोत। सीरियल एक वर्णित अध्याय के रूप में पढ़ा जा सकता है जिसमें एक पुरुष जब एक स्त्री के हथकंडों में फँस जाता है तो क्या होता है? व्यवस्था और संतुलन फिर से प्राप्त किया जा सकता है। केवल तब जब वह स्त्री की जकड़ से भाग जाता है और बुराई का स्रोत नारी नष्ट हो जाती है।

